2951

कर्मग्रन्थ

जैन कर्मशास्त्र का सर्वांग विवेचन

व्याख्याकार -
मरुधर केसरी प्रवर्तक
मुनिश्री मिश्रीमल जी

भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मविपाक नामक

कर्मग्रन्थ [प्रथम भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

संपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर-ब्यावर

2941

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचनयुक्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैनदर्शन का एक महान ग्रन्थ है। इसके छह भागों में जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देव कुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। हम सभी विद्वानों, मुनिवरों, एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमशः छहों भागों में हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

विनीत

मन्त्री—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

द्वितीय संस्करण

दो शब्द

'कर्मग्रन्थ' जैसे गहन-गम्भीर ग्रन्थ का प्रकाशन करते समय लग रहा था कि ऐसे ग्रन्थों के पाठक बहुत कम ही होते हैं अतः अधिक प्रतियाँ न छापकर १ हजार प्रतियाँ छापी जायें। हमने १२०० प्रतियाँ छापीं और फिर क्रमशः भाग २ से ६ तक का सम्पूर्ण सेट कर्मग्रन्थ एक ही वर्ष में प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में पहुँचा दिया।

चार वर्ष की अल्प अवधि में ही प्रथम व द्वितीय भाग पूर्णतया समाप्त हो गया और पिछले एक वर्ष से ही बराबर नये संस्करण की मांग आ रही है। यह कर्मग्रन्थ जैसे जटिल ग्रन्थ की सरल व सुबोध व्याख्या की लोकप्रियता ही समझना चाहिए। अनेक संस्थाओं ने अपने पाठ्यक्रम में भी हमारे उन भागों को स्थान दिया है। विद्यार्थी व जिज्ञासु बड़े चाव से इन्हें पढ़ रहे हैं। यह सब हमारे उत्साह को बढ़ाने वाले प्रसंग हैं।

अब पाठकों की मांग के अनुसार कर्मग्रन्थ का यह द्वितीय संशोधित संस्करण प्रस्तुत है।

कागज—छपाई आदि सभी वस्तुओं की अत्यधिक मंहगाई होते हुए भी हमने पाठकों की सुविधा का ध्यान रखकर मूल्य में कुछ भी वृद्धि नहीं की है। आशा है, पाठकों को यह उचित ही लगेगा।

द्वितीय भाग का नया संस्करण भी शीघ्र ही सेवा में प्रस्तुत हो रहा है।

—मंत्री

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

ब्यावर

सम्पादकीय

जैनदर्शन को समझने की कुंजी है—'कर्मसिद्धान्त।' यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा। और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त।' इसलिये जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ (भाग १ से ६) अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। जैन साहित्य में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्मग्रन्थ को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थ की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इसके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थ का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थ का आधुनिक शैली में सरल विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन-कर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलाल जी के ग्रन्थों का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ और इनके कारण इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आप सब का आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

श्रीचन्द सुराना

आ मुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फलभोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्व-वैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहां ईश्वर को माना है, वहां जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसंपन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, जो कंठस्थ करने पर साधारण तत्त्वजिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्म सिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके छह भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ प्राकृत गाथा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर सन्त ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं व कार्यक्रमों का आयोजन! व्यस्त जीवन में भी आप १०-१२ घण्टा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेवश्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेवश्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सपर्क में हैं।

गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व-साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। यह प्रथम भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है, इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना १९–८०

कर्मसिद्धान्त का पर्यालोचन

जगत के मूलपदार्थ । विकार का कारण । कर्म-शब्द के वाचक विभिन्न शब्द । कर्म-विपाक के विषय में विभिन्न दर्शनों का मन्तव्य । कर्मसिद्धान्त पर आक्षेप और परिहार । आत्मा का अस्तित्व : सात प्रमाण । आत्मा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य । कर्म का अनादित्व । अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त सम्भव है । आत्मा और कर्म में बलवान कौन ? कर्मसिद्धान्त का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध । कर्म-सिद्धान्त का साध्य : प्रयोजन । कर्म-सिद्धान्त विचार ऐतिहासिक समीक्षा । जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का विवेचन । जैनदर्शन का विवेचन । जैनदर्शन का विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण । कर्म का लक्षण । भावकर्म और द्रव्यकर्म का विशेष विवेचन । चार बन्ध का वर्णन । कर्म की विविध अवस्थाएँ । बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता का स्पष्टीकरण । कर्मक्षय की प्रक्रिया, कर्मक्षय करने के साधन । जैनदर्शन में कर्म तत्व विषयक विवेचना का सारांश । भारतीय दर्शन साहित्य में कर्मवाद का स्थान । जैन दर्शन में कर्मवाद का स्थान । मौलिक जैन कर्म साहित्य । जैन कर्म साहित्य के प्रणेता । कर्मशास्त्र का परिचय । कर्मविपाक ग्रन्थ : ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय ।

पृष्ठ

गाथा १ १-८

मंगलाचरण एवं अभिधेय १

'सिरि वीर जिण' पद की व्याख्या १

कर्म की परिभाषा ३

जीव और कर्म का सम्बन्ध ४

पृष्ठ

द्रव्यकर्म और भावकर्म	५
कर्मबन्ध के कारण	५
कर्मबन्ध के कारणों के लक्षण	६
कर्मबन्ध के कारणों की संख्याओं की परम्परा सम्बन्धी स्पष्टीकरण	८
गाथा २	६-१२
कर्मबन्ध के चार प्रकार	६
कर्मबन्ध के चार प्रकारों के लक्षण व दृष्टान्त	१०
कर्म की मूल एवं उत्तरप्रकृति का लक्षण और उनकी संख्या	१२
गाथा ३	१२-१५
कर्म की मूल प्रकृतियों के नाम	१२
कर्म की मूल प्रकृतियों—ज्ञानावरण आदि के लक्षण	१४
ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के घाति और अघाति भेद और कारण	१५
ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या	१५
गाथा ४	१६-२४
ज्ञान के पांच भेदों के नाम	१६
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के लक्षण	१६
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर	१७
अवधिज्ञान का लक्षण	१७
मनःपर्यवज्ञान का लक्षण	१८
मनःपर्यवज्ञान की विशेषता	१६
केवलज्ञान का लक्षण	१६
मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों में परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण मानने का कारण	२०
मतिज्ञान के भेद	२१
व्यंजनावग्रह का लक्षण और उसके भेद	२२

	पृष्ठ
गाथा ५	२४-३२
अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के लक्षण और भेद	२४
मतिज्ञान के ३३६ और ३४० भेद और उनके होने के कारण	२६
औत्पात्तिकी बुद्धि आदि अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेद व लक्षण	३२
गाथा ६, ७	३३-४३
श्रुतज्ञान के चौदह और बीस भेदों के नाम	३३
श्रुतज्ञान के चौदह भेदों के लक्षण	३४
सपर्यवसित और अपर्यवसित श्रुतज्ञान सम्बन्धी स्पष्टीकरण	३९
श्रुतज्ञान के बीस भेदों के नाम	४१
श्रुतज्ञान के बीस भेदों के लक्षण	४२
गाथा ८	४४-५४
अवधिज्ञान के भेद और लक्षण	४४
भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में अन्तर	४५
गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद और उनके लक्षण	४६
अवधिज्ञान का द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा वर्णन	४९
मनःपर्यवज्ञान के भेद और उनके लक्षण	५०
ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञान में अन्तर	५१
अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में अन्तर	५२
केवलज्ञान की विशेषता	५३
शक्ति की अपेक्षा एक साथ कितने ज्ञान ?	५३
गाथा ९	५५-५८
ज्ञानावरण कर्म का स्वरूप	५५
ज्ञानावरण कर्म के भेद और उनके लक्षण	५६
मतिज्ञानावरण आदि पांच भेदों में कौन देशघाती और सर्वघाती ?	५७
दर्शनावरण कर्म के भेदों की संख्या	५८

	पृष्ठ
गाथा १०	५८-५९
दर्शनावरण कर्म का स्वरूप	५८
दर्शन के भेद और उनके आवरणों के नाम व लक्षण	५८
गाथा ११, १२	६०-६३
पाँच निद्राओं के नाम व उनके लक्षण	६१
वेदनीयकर्म का स्वरूप	६२
गाथा १३	६३-६६
देव आदि चार गतियों में वेदनीयकर्म के उदय की तरतमता	६३
मोहनीयकर्म का स्वरूप और उसका कार्य	६५
मोहनीयकर्म के भेद और उनके लक्षण	६५
गाथा १४	६६-६९
दर्शनमोहनीय के भेद और उनके लक्षण	६७
दर्शनमोहनीय के भेदों की आवरण शक्ति व दृष्टान्त	६८
गाथा १५	६९-७४
जीव आदि नवतत्त्वों के लक्षण	६९
सम्यक्त्व के भेद और उनके लक्षण	७२
गाथा १६	७५-७७
मिश्रमोहनीय की व्याख्या और दृष्टान्त	७५
मिथ्यात्वमोहनीय का लक्षण व भेद	७६
गाथा १७	७७-८१
चारित्रमोहनीय कर्म के भेदों के नाम	७७
कषायमोहनीय के भेद, लक्षण और उनके चार प्रकार होने के कारण	७८
अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के लक्षण	७८
नोकषायमोहनीय का लक्षण	८१

पृष्ठ

गाथा १८ — ८१-८२
अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की काल-मर्यादा — ८१
अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से बन्धने वाली गतियों के नाम — ८१
अनन्तानुबन्धी आदि कषायों द्वारा होने वाला कार्य — ८२

गाथा १९, २० — ८२-८५
अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से युक्त आत्मपरिणामों के दृष्टान्त — ८३

गाथा २१, २२ — ८५-८६
नोकषायमोहनीय के भेदों के नाम और उनके लक्षण — ८६

गाथा २३ — ८६-९३
आयुकर्म का लक्षण और उसका कार्य — ८९
अपवर्तनीय—अनपवर्तनीय आयु के लक्षण — ९०
आयुकर्म के भेदों के नाम और उनके लक्षण — ९२
नामकर्म का लक्षण और उनका कार्य — ९३
नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षाभेद से संख्या — ९३

गाथा २४, २५ — ९३-९६
नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के नाम — ९४
नामकर्म की आठ प्रत्येकप्रकृतियों के नाम — ९४
नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के लक्षण — ९५

गाथा २६, २७ — ९७-९८
त्रसदसक की प्रकृतियों के नाम — ९७
स्थावरदशक की प्रकृतियों के नाम — ९७

गाथा २८, २९ — ९८-१००
त्रसचतुष्क आदि संज्ञाओं के नाम और उनमें गर्भित प्रकृतियों के नाम — ९९

पृष्ठ

गाथा ३० १००-१०१

नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के उत्तरभेदों की संख्या १०१

गाथा ३१, ३२ १०१-१०२

नामकर्म की प्रकृतियों की संख्याभिन्नता का कारण १०२

आठ कर्मों की बन्ध, उदय-उदीरणा, सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनमें भिन्नता के कारण १०३

गाथा ३३ १०४-१०९

गति नामकर्म के भेद और उनके लक्षण १०५

जाति नामकर्म के भेद और उनके लक्षण १०५

शरीर नामकर्म के भेद और उनके लक्षण १०६

संसारी जीवों में कितने शरीर ? १०८

गाथा ३४ १०९-११०

अंगोपांग नामकर्म के भेद १०९

गाथा ३५ ११०-११२

बंधन नामकर्म का लक्षण १११

बंधन नामकर्म के भेद और उनके लक्षण १११

गाथा ३६ ११२-११४

संघातन नामकर्म का लक्षण ११३

संघातन नामकर्म के भेद और उनके लक्षण ११३

गाथा ३७ ११४-११६

बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद बनने का कारण ११४

बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेदों के नाम और उनके लक्षण ११५

गाथा ३८, ३९ ११७-११८

संहनन नामकर्म का लक्षण ११७

संहनन नामकर्म के भेद और उनके लक्षण ११७

पृष्ठ

गाथा ४० — ११८-१२१
संस्थान नामकर्म का लक्षण और उसके भेद — ११९
वर्ण नामकर्म का लक्षण और भेद — १२०

गाथा ४१ — १२१-१२३
गंध नामकर्म के भेद व उनके लक्षण — १२१
रस नामकर्म के भेद व उनके लक्षण — १२२
स्पर्श नामकर्म के भेद व उनके लक्षण — १२२

गाथा ४२ — १२३-१२४
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के भेदों में कौन शुभ, कौन अशुभ — १२३

गाथा ४३ — १२४-१२६
आनुपूर्वी नामकर्म की व्याख्या और भेद — १२५
गतिद्विक आदि संज्ञायें — १२६
विहायोगति नामकर्म के भेद — १२६

गाथा ४४ — १२७
पराघात और उच्छ्वास नामकर्म के लक्षण — १२७

गाथा ४५-४६ — १२७-१२९
आतप नामकर्म का लक्षण — १२८
आतप और उष्ण नामकर्म में अन्तर — १२९
उद्योत नामकर्म का लक्षण — १२९

गाथा ४७ — १२९-१३१
अगुरुलघु नामकर्म का लक्षण — १३०
तीर्थंकर नामकर्म का लक्षण — १३१

गाथा ४८ — १३१-१३२
निर्माण नामकर्म का लक्षण — १३१
उपघात नामकर्म का लक्षण — १३१

	पृष्ठ
गाथा ४९	१३२-१३७
त्रस नामकर्म का लक्षण व भेद	१३२
बादर नामकर्म की व्याख्या	१३२
पर्याप्त नामकर्म की व्याख्या	१३४
पर्याप्त नामकर्म के भेद और उनके लक्षण	१३५
पर्याप्त जीवों के भेद	१३७
गाथा ५०	१३७-१३८
प्रत्येक नामकर्म का लक्षण	१३८
स्थिर नामकर्म का लक्षण	१३८
शुभ नामकर्म का लक्षण	१३८
सुभग नामकर्म का लक्षण	१३८
गाथा ५१	१३८-१४२
स्वर नामकर्म का लक्षण	१३९
आदेय नामकर्म का लक्षण	१३९
यशःकीर्ति नामकर्म का लक्षण	१३९
स्थावरदशक की प्रकृतियों के नाम और उनके लक्षण	१४०
गाथा ५२	१४२-१४५
गोत्रकर्म का लक्षण व भेद	१४२
अन्तरायकर्म का लक्षण व भेद	१४४
गाथा ५३	१४५-१४६
अन्तरायकर्म का दृष्टान्त	१४५
गाथा ५४	१४६-१४८
ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मबन्ध के विशेष कारण और उनकी व्याख्या	१४६

पृष्ठ

गाथा ५५ १४८-१५०

सातावेदनीय कर्मबन्ध के विशेष कारण और उनकी व्याख्या १४९

गाथा ५६ १५०-१५२

दर्शनमोहनीय के बन्ध के कारण १५१

गाथा ५७ १५२-१५५

चारित्रमोहनीय के बन्ध के कारण १५३

नरकायुष्य के बंध के कारण १५५

गाथा ५८ १५५-१५६

तिर्यंचायु व मनुष्यायु के बंध के कारण १५६

गाथा ५९ १५६-१५८

देवायु के बंध के कारण १५६

शुभ और अशुभ नामकर्म के बंध के कारण १५७

गाथा ६० १५८-१५९

गोत्रकर्म के बन्ध के कारण १५९

गाथा ६१ १५९-१६०

अन्तरायकर्म के बन्ध के कारण १६०

परिशिष्ट

० कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की संख्या तथा नाम १६१

० नामकर्म की प्रकृतियों की गणना का विशेष स्पष्टीकरण १६४

० बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या १६७

० कर्मबंध के विशेष कारण सम्बन्धी आगम पाठ १६८

० कर्म साहित्य विषयक समान-असमान मन्तव्य १७८

० अष्टमहाप्रातिहार्य, संहनन एवं संस्थान के चित्र १८९-९१

प्रस्तावना

कर्मसिद्धान्त का पर्यालोचन

जगत् के मूल पदार्थ

दृश्यमान जगत में दो प्रकार के पदार्थ हैं। दोनों का अपना-अपना अस्तित्व, गुण-धर्म और निजी प्रक्रिया है। उनमें से एक प्रकार के पदार्थ वे हैं, जिनमें इच्छाएँ हैं, भावनाएँ हैं, ज्ञान है एवं सुख-दुःख का संवेदन होता है और दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनमें प्रथम प्रकार के बताये गये पदार्थों की कोई प्रक्रिया नहीं होती है।

प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने गुण-धर्मों की भिन्नता से इन दोनों प्रकार के पदार्थों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है। विज्ञान की भाषा में प्रथम प्रकार के पदार्थों को सचेतन (जीव) और दूसरे प्रकार के पदार्थों को अचेतन (अजीव जड़, भौतिक) कहा जाता है। जीव की क्रिया में जीव स्वयं भावात्मक और क्रियात्मक पुरुषार्थ करता है, जबकि अजीव पदार्थों की क्रिया प्रकृति से होती रहती है। उनकी क्रिया में उनका अपना निजी पुरुषार्थ या प्रयत्न नहीं होता है। यही अन्तर उन दोनों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है।

विकार का कारण

प्रत्येक पदार्थ के जब अपने-अपने गुण-धर्म हैं, तब फिर इनमें विकार, विभिन्नता और विचित्रता दिखने का कारण क्या है? हम अजीव अथवा अजीव-मिश्रित जीव को ही देखते हैं। दोनों का शुद्ध रूप तो हमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह एक प्रश्न है, जिसका प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

प्रत्येक पदार्थ का निजी स्वभाव और उससे मेल खाने वाली क्रिया तथा समान गुण-धर्म वाला पदार्थ सजातीय कहलाता है तथा उस पदार्थ के स्वभाव

से भिन्न या विपरीत स्वभाव, क्रिया वाला पदार्थ विजातीय कहा जाता है। जब समान गुण-धर्म वाले पदार्थों का संयोग होता है, तब कोई विकार पैदा नहीं होता, परन्तु विरुद्ध गुण-धर्म वाले पदार्थों के मिलते ही उनमें विकार पैदा हो जाता है और वे विकृत कहलाते हैं। विज्ञान और चिकित्साशास्त्र द्वारा यह स्पष्टत: देखा जा सकता है। विजातीय पदार्थ के संयोग से होने वाली क्रिया की प्रतिक्रिया सहज में ही दिखलाई देती है।

निर्जीव पदार्थों में भी विजातीय द्रव्य के मिलने से विकार तो उत्पन्न होता है, परन्तु उनकी क्रिया प्राकृतिक नियमानुसार स्वत: होती रहने से वे अपनी ओर से प्रतिक्रिया करने का यत्न नहीं करते हैं। लेकिन सजीव द्रव्य की यह विशेषता है कि वह विजातीय पदार्थ का संयोग करते हुए भी उस विजातीय द्रव्य के संयोग को सहन नहीं करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपने संयोग से सचेतन-सी बनी हुई इन्द्रियों आदि के संयोग में आई हुई विजातीय वस्तुओं को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर देता है और जब तक वह विजातीय पदार्थ दूर नहीं हो जाता, तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि सजीव विजातीय द्रव्य के संयोग से विकारग्रस्त होता है और विजातीय द्रव्य का संयोग ही विकार का जनक है।

इस कथन का सैद्धान्तिक फलितार्थ यह है कि जीव के लिए अजीव विजातीय पदार्थ है और जब जीव के साथ अजीव का संयोग होता है तो जीव में विकार उत्पन्न होता है। जीव के साथ अजीव का संयोग और तज्जन्य कार्य को दार्शनिक शब्दों में कर्म या इसके समानार्थक अन्य शब्दों से कह सकते हैं।

कर्म शब्द के वाचक विभिन्न शब्द

कर्म शब्द लोकव्यवहार और शास्त्र दोनों में व्यवहृत हुआ है। जन-साधारण अपने लौकिक व्यवहार में काम (कार्य), व्यापार, क्रिया आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि खाना, पीना, चलना आदि किसी भी हल-चल के लिए, चाहे वह जीव की हो या अजीव की हो—कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। कर्मकांडी मीमांसक यज्ञ-यागादिक क्रियाओं के अर्थ में, स्मार्त

विद्वान् ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्तव्य (कर्म) के रूप में, पौराणिक व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, वैयाकरण कर्ता के व्यापार का फल जिस पर गिरता है, उसके अर्थ में और वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पांच सांकेतिक कर्मों के अर्थ में तथा गीता में क्रिया, कर्तव्य, पुनर्भव के कारणरूप अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैनदर्शन में जिन अर्थों के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, उन अर्थ अथवा उस अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द मिलते हैं।

दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनों के लिए साधारण-से हैं, लेकिन माया, अविद्या और प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्तदर्शन में पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैनदर्शन में भावकर्म कहते हैं।

'अपूर्व' शब्द मीमांसादर्शन में मिलता है। यह दर्शन मानता है कि सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतन्त्र शक्ति है, जिससे संसार परिचालित होता है। जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है।

'वासना' शब्द बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध है। बौद्धदर्शन में चार आर्यसत्यों में से, दूसरे दुःख के कारणों के रूप में द्वादश निदानों को बतलाते हुए कहा है कि पूर्वजन्म की अन्तिम अवस्था में मनुष्य के पूर्ववर्ती सभी कर्मों का प्रभाव रहता है और कर्मों के अनुसार संस्कार बनते हैं। इन संस्कारों को वासना कहते हैं जो क्रमशः चलती रहती है।

योगदर्शन में भी वासना शब्द का कर्म-पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। वहाँ ईश्वर का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश आदि के कारण दुःख पाते हैं।

वे भाँति-भाँति के कर्म करते हैं और उनके विपाक या फलस्वरूप सुख-दुःख भोग करते हैं। वे पूर्वजन्म के निहित संस्कारों से भी प्रभावित होते हैं। इन पूर्वजन्म के संस्कारों की परम्परा का दूसरा नाम वासना या कर्म है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन मे कर्म का अर्थ प्रतिपादन करने के लिए 'आशय' शब्द का भी उपयोग देखने में आता है। सांख्यदर्शन में भी आशय शब्द का प्रयोग मिलता है।

सामान्यतया अन्य दर्शनों में भी धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार आदि शब्दों का प्रयोग देखने में आता है। लेकिन मुख्य रूप से दो शब्द न्याय और वैशेषिक दर्शनों में प्रयुक्त हुए हैं।

पुनर्जन्म को मानने वाले आत्मवादी दर्शनों को पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए कर्म को मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चिन्तन के स्वरूप में मत-भिन्नता होने के कारण कर्म का स्वरूप भिन्न-भिन्न मालूम पड़े, किन्तु इतना निश्चित है कि सभी आत्मवादियों ने पूर्वोक्त माया आदि शब्दों से किसी न किसी रूप से कर्म को स्वीकार किया है

जैनदर्शन द्वारा मान्य कर्म शब्द के अर्थ को यथास्थान आगे विशेष रूप से स्पष्ट करेंगे।

कर्मविपाक के विषय में विभिन्न दर्शनों का मन्तव्य

कर्म और कर्मफल का चिन्तन मानव-जीवन की सहजिक प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल होता है? इसी अनुभव के आधार पर वह यह भी निश्चित करता है कि किस फल की प्राप्ति के लिए उसे कौन-सा कार्य करना चाहिए। इस प्रकार मानवीय सभ्यता का समस्त ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक चिन्तन किसी न किसी रूप में कर्म व कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता चला आ रहा है।

कर्म और कर्मफल-सम्बन्धी चिन्तन की दृष्टि से संसार के सभी दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक दर्शन वे हैं जो कर्मफल-सम्बन्धी कारण-कार्य-परम्परा को इस जीवन तक ही चलने वाली मानते हैं। वे यह विश्वास नहीं करते कि इस देह के विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यों की परम्परा

आगे चलती है। उनके अनुसार जीवन सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियाँ पंचभूतों के संयोग से प्राणी के गर्भ या जन्मकाल से प्रारम्भ होती हैं और आयु के अन्त में शरीर के विनष्ट हो जाने पर पुनः पंचभूतों में मिलने से उन प्रवृत्तियों का अवसान हो जाता है। ऐसी मान्यता वाले दर्शनों को भौतिकवादी कहा जाता है।

इसके विपरीत दूसरे प्रकार के दर्शन वे हैं, जो मानते हैं कि पंचभूतात्मक शरीर के भीतर एक अन्य तत्त्व—जीव या आत्मा विद्यमान है, और वह अनादि-अनन्त है। उसका अनादिकालीन सांसारिक यात्रा के बीच किसी विशेष भौतिक शरीर को धारण करना और उसे त्यागना एक अवान्तर घटना मात्र है। आत्मा ही अपने भौतिक शरीर के माध्यम से नाना प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा नित्य नये संस्कार उत्पन्न करती है, उनके फलों को भोगती है और तदनुसार एक योनि को छोड़कर दूसरी योनि में प्रवेश करती रहती है, जब तक कि वह विशेष क्रियाओं द्वारा अपने को शुद्ध कर इस जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त होकर सिद्ध नहीं हो जाती है। ऐसी ही मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करना मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। इस प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करने वाले दर्शन अध्यात्मवादी कहलाते हैं।

इन दोनों प्रकार की विचारधाराओं में से कुछ एक अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने कर्मफल-प्राप्ति के बारे में जीव को स्वतंत्र भोक्ता न होना तथा सृष्टि को अनादि न मानकर किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना है और उत्पत्ति के साथ विनाश का भी समय निश्चित करके उसकी उत्पत्ति और विनाश के लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया है। उनमें से कुछ एक का दृष्टिकोण इस प्रकार है—

न्यायदर्शन में कहा गया है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं। ईश्वर जगत् का आदि सर्जक, पालक और संहारक है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता वरन् नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से उसकी सृष्टि करता है। वह संसार का पोषक भी है, क्योंकि उसकी इच्छानुसार संसार कायम रहता है। वह संसार का संहारक भी है। क्योंकि जब-जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए संसार के संहार

की आवश्यकता पड़ती है, तब-तब वह संहार भी करता है। यद्यपि फल प्रदान हेतु ईश्वर को मनुष्य के पाप और पुण्य के अनुसार मानना पड़ता है; फिर भी वह सर्वशक्तिमान है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता तो है, लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट (अतीत कर्म) के अनुसार प्रेरित या प्रयोजित होकर कर्म करता है। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का कर्म-व्यवस्थापक है, उनके कर्म का फलदाता और सुख-दुःख का निर्णायक है।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार सृष्टि और संसार का कर्ता महेश्वर है। उसकी इच्छा से संसार की सृष्टि होती है और उसी की इच्छा से प्रलय होता है। उसकी इच्छा हो, तब संसार बन जाता है, जिससे सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कर सकें और जब उसकी इच्छा होती है, तब वह उस जगत् को समेट लेता है। यह सृष्टि और लय का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। सृष्टि का अर्थ है, पुरातन क्रम का ध्वंस कर नवीन का निर्माण। जीवों के प्राक्तन कर्म (पूर्वकृत पाप और पुण्य) को ध्यान में रखते हुए ईश्वर एक नव सृष्टि की रचना करता है। ब्रह्म या विश्वात्मा, जो अनन्त ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का भण्डार है, ब्रह्माण्ड के चक्र को इस प्रकार घुमाता है कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार जीवों को सुख-दुःख का भोग होता रहता है।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम जड़ जगत् का फैलाव माना है। योगदर्शन में ईश्वर परम पुरुष है, जो सभी जीवों से ऊपर और सभी दोषों से रहित है, वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्ण परमात्मा है। संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि के कारण दुःख पाते हैं।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि होती है और दोनों के विच्छेद से प्रलय होता है। प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व हैं। दोनों का संयोग या वियोग स्वभावतः नहीं हो सकता है। इसके लिए एक ऐसा निमित्त कारण मानना पड़ता है जो अनन्त बुद्धिमान हो और जीवों के अदृष्ट के अनुसार प्रकृति से पुरुष का संयोग या वियोग करा सके। जीवात्मा या पुरुष स्वयं अपना अदृष्ट नहीं जानता, इसलिए एक ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को मानना आव-

श्यक है, जो जीवों के अदृष्टानुसार संसार की रचना या संहार कर पुरुष-प्रकृति का संयोग-वियोग कराता रहे। जो यह कार्य सम्पन्न करता है, वह ईश्वर है, जिसकी प्रेरणा के बिना प्रकृति जगत् का उस रूप में विकास नहीं कर सकती, जो जीवों की आत्मोन्नति तथा मुक्ति के लिए अनुकूल हो।

वेदान्तदर्शन में श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में उपनिषद् के आधार पर ब्रह्म को सृष्टि का कारण सिद्ध किया है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह यद्यपि एक जैसा नहीं है, परन्तु इस विषय में प्रायः सभी एकमत हैं कि आत्मा (ब्रह्म या सत्) ही जगत का निमित्त और उपादान—दोनों ही कारण हैं। सृष्टि की आदि के विषय में अधिकांश उपनिषदों का मत कुछ इस प्रकार है कि सबसे पहले (आदि में) आत्मा मात्र था। उसमें संकल्प हुआ कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, मैं सृष्टि की रचना करूँ; और इस सृष्टि की रचना हो गई। ब्रह्म इस सृष्टि का सृजन अपने में विद्यमान माया शक्ति से करता है।

इन सब परिकल्पनाओं के विपरीत जैनदर्शन जीवों से कर्मफल भोगवाने के लिए ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता है, क्योंकि जैसे जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, वैसे ही उसका फल भोगने में भी स्वतंत्र है। यदि ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता माना जाये तो स्वयं जीव द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे। क्योंकि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो क्या हमें सुखी कर सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कर्म करें तो क्या वह हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कर्म करना और बुरे कर्मों से डरना हमारा व्यर्थ है, क्योंकि उनके फल का भोग स्वयं जीव के अधीन नहीं है और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ेगा तो पर के हस्तक्षेप की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि जीव स्वयं अपने कृतकर्मों का फल भोगता है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,—
कर्मोदयान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परं परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरणजीवित दुःख-सौख्यम्॥

अतएव किसी को चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, दूसरों के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का कर्ता मानना मात्र एक कल्पना है, अज्ञान मात्र है। आचार्य अमितगति ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाऽशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेव मनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।

तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर भी संसार का स्रष्टा ईश्वर आदि कोई सिद्ध नहीं होता है। उसके विषय में इतने प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि न कोई जगत् का सर्जक सिद्ध होता है और न असंख्य प्रकार का जगत् वैचित्र्य किसी एक के द्वारा रचा जाना संभव है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने व्यक्तिगत जगत् का स्वयं स्रष्टा है। इसीलिए जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता है, क्योंकि सृष्टि अनादि-अनन्त होने से वह कभी अपूर्व रूप में उत्पन्न नहीं हुई है तथा वह भी स्वयं परिणमनशील होने से ईश्वर के अधिष्ठान की भी अपेक्षा नहीं रखती है।

कर्मसिद्धान्त पर आक्षेप और परिहार

कर्मसिद्धान्त पर ईश्वर को सृष्टिकर्ता या प्रेरक मानने वालों के कुछ आक्षेप हैं। जिनको निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) महल-मकान आदि विश्व की छोटी बड़ी चीजें, जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा निर्मित होती हैं तो पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए।

(२) सभी प्राणी अच्छे-बुरे कर्म करते हैं, परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से बिना किसी चेतन की प्रेरणा के फल देने में असमर्थ हैं। इसलिए ईश्वर को कर्मफल भोगवाने में कारण-रूप से कर्म-वादियों को मानना चाहिए।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सदा मुक्त हो और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी उसमें कुछ विशेषता हो। अतः कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी मुक्त, अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

उक्त आक्षेपों का समाधान उत्तर इस प्रकार है--

(१) यह जगत् सदा से है, किसी समय नया नहीं बना है। परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनमें किसी मनुष्य आदि प्राणिवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा होती है और दूसरे ऐसे भी परिवर्तन देखे जाते हैं, जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं भी रहती है। वे जड़ तत्त्वों के तरह-तरह के संयोगों-वियोगों से स्वतः स्वयमेव बनते रहते हैं, इसलिए ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है और न उपयोगिता है।

(२) यह ठीक है कि कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये हुए बुरे कर्म का फल नहीं चाहते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जीव (चेतन) के संयोग से कर्म में एक प्रकार की ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर प्रकट करता है।

कर्मसिद्धान्त यह नहीं मानता कि चेतन के सम्बन्ध के सिवाय ही जड़कर्म फल देने में समर्थ हैं, परन्तु यह मानता है कि फल देने के लिए ईश्वररूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सभी जीव चेतन हैं और वे जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार उनकी वैसी बुद्धि बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना और फल न चाहना, ये दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं, केवल चाह न होने से ही किये गये कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता है। सामग्री इकट्ठी हो गई हो तो कार्य, आप-ही-आप होने लगता है, जैसे—एक मनुष्य धूप में खड़ा हो, गरम चीज खाता हो और चाहे कि प्यास न लगे तो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? यदि ईश्वरकर्तृत्ववादी यह कहें कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं तो इसका उत्तर यह है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं।

(३) ईश्वर और जीव—दोनों चेतन हैं, फिर उनमें अन्तर ही क्या है ? अन्तर सिर्फ इतना ही हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं, परन्तु जिस समय जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा आवरणों को हटा देता है, उस समय उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाती हैं। अतः जीव और ईश्वर में विषमता का कारण नहीं रहता है। विषमता के कारण औपाधिक कर्मों के हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विषमता संसार तक ही सीमित है, आगे नहीं। इसलिए यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल कल्पना के बल पर यह कह देना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए, उचित नहीं है। आत्माएँ अनेक हैं और वे सभी तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं केवल बन्धन के कारण ही छोटे-बड़े जीव रूप में देखी जाती हैं। यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

आत्मा का अस्तित्व—सात प्रमाण

कर्म का बन्ध कौन करता है और उसका फल कौन भोगता है, इस प्रश्न का उत्तर है आत्मा। अतएव कर्म-तत्त्व के बारे में विचार करने के साथ-साथ आत्मा के अस्तित्व को मानना जरूरी है, तभी कर्म का विवेचन युक्ति-संगत माना जाएगा। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व निम्नलिखित सात प्रमाणों से सिद्ध होता है—

(१) स्वसंवेदन-रूप साधक प्रमाण,
(२) बाधक प्रमाण का अभाव,
(३) निषेध से निषेधकर्त्ता की सिद्धि,
(४) तर्क,
(५) शास्त्र-प्रमाण,
(६) आधुनिक विद्वानों की सम्मति,
(७) पुनर्जन्म।

उक्त प्रमाणों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) **स्वसंवेदन-रूप साधक प्रमाण**—यद्यपि सभी देह-धारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप से घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का सन्देह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी-सी भी स्थिर हो जाती है, उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'; यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। इससे उल्टा यह निश्चय होता है 'मैं हूँ'। इसी बात को श्री शंकराचार्य ने भी कहा है --

"**सर्व आत्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति**"[1]—इसी निश्चय को स्वसंवेदन या आत्मनिश्चय कहते हैं।

(२) **बाधक प्रमाण का अभाव**—ऐसा कोई प्रमाण नहीं जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता हो। इस पर यदि यह शंका की जाये कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाधक प्रमाण है, तो इसका समाधान सहज है। क्योंकि बाधक प्रमाण वही माना जाता है, जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर भी उसे ग्रहण न कर सके। उदाहरणार्थ - आँख मिट्टी के घड़े को देख सकती है। परन्तु प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिए।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति परिमित है। वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर-ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों आदि साधनों की भी यही दशा है। वे अभी तक भौतिक पदार्थों में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं और उनमें भी पूर्ण रूप से नहीं। इसलिए उनका अभौतिक-अमूर्त आत्मा को न जान सकना बाधक नहीं कहा जा सकता है। मन सूक्ष्म भौतिक होने पर भी इन्द्रियों का दास बन जाता है— एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दरों के समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस और तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं; सात्त्विक भाव प्रकट नहीं हो पाता है। यही बात गीता में भी कही गयी है—

---

१ ब्रह्मभाष्य १-१-१

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥[1]

मन जब स्वतन्त्र विचरती हुई इन्द्रियों में जिस किसी एक भी इन्द्रिय के पीछे लग जाता है, तो उसकी बुद्धि को भी अपने साथ बहाकर ले जाता है, जैसे नाव को पवन ।

इसलिए चंचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नहीं होती । यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति जिस दर्पण में विद्यमान है, वही जब मलिन हो जाता है, तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता । इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना, उसका बाधक नहीं, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है ।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियां, सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते ।

(३) **निषेध से निषेधकर्त्ता की सिद्धि**—कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो जाती है, क्योंकि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नहीं हूँ' इत्यादि । परन्तु उनको जानना चाहिए कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है, क्योंकि आत्मा न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे हो ? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है । इस बात को शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—

य एव हि निराकर्ता तदेव हि तस्य स्वरूपम् । २।३।१।७

(४) **तर्क**—यह भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की पुष्टि करता है । यह कहता है कि जगत में सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है । जैसे अंधकार का विरोधी प्रकाश, उष्णत्व का विरोधी शीतत्व और सुख का विरोधी दुःख, इसी तरह जड़ पदार्थ का विरोधी कोई तत्त्व होना चाहिए । यह

---

१ गीता, अध्याय २, श्लोक ६७ ।

तर्क निर्मूल या अप्रमाण नहीं है, बल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध बुद्धि का चिह्न है। जो तत्त्व जड़ का विरोधी है, वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि जड़-चेतन ये दो विरोधी स्वतन्त्र तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़ व चेतन तत्त्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उसकी अभिव्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्ति वाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ से अतिरिक्त अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी-रूप में दिखाई देते हैं। ऐसा ही मन्तव्य हेगल आदि पश्चिमी विद्वानों का है। परन्तु इस प्रतिकूल तर्क का निराकरण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तब उसमें दूसरी विरोधी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है, वह सदा के लिए नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार जो शक्ति पुनः प्रादुर्भूत हुई होती है, वह भी सदा के लिए नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है; उदाहरणार्थ —पानी के अणुओं को लीजिए, वे गरमी पाते ही भाप के रूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी के रूप में बरसते हैं और अधिक शीतत्व होने पर द्रव-रूप को छोड़ बर्फ के रूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व —दोनों शक्तियों को किसी एक मूलतत्त्व-गत मान लें तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा; क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं, वे ही सब जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायेंगे, जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़-रूप में दिखाई देते हैं, वे भी कभी चेतन हो जाएँगे और चेतनरूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणी कभी जड़-रूप भी हो जाएँगे। अतएव एक ही पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व—दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ व चेतन—दो स्वतन्त्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(५) शास्त्र-प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने बड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय में खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम विना अनुभव किये चपलता से यों ही हँस दें तो इसमें क्षुद्रता किसकी? आज-कल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रता पूर्वक आत्मा के विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभव को यदि हम अपने भ्रान्त अनुभव के बल पर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निस्स्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को बतला रहे हैं।

(६) आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति—आजकल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिए बहुधा वैज्ञानिक विद्वानों का विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पाश्चात्य भौतिक विज्ञानविशारद आत्मा को नहीं मानते या उसके विषय में सन्दिग्ध हैं, परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक चिन्तन की खोज में बिताई है, परन्तु उनकी दृष्टि भूतों से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची। उनमें से सर आलीवर लॉज और लार्ड केलविन के नाम वैज्ञानिक संसार में प्रसिद्ध हैं। वे दोनों विद्वान चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने जड़वादियों की युक्तियों का खण्डन बड़ी सावधानी से किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना बन नहीं सकती। वे अन्य भौतिकवादियों की तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड़ नहीं समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते हैं।

संसार-प्रख्यात वैज्ञानिक डा० जगदीशचन्द्र बसु की खोज से यहाँ तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है। उन्होंने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्मतत्त्व मानने के लिए वैज्ञानिक संसार को विवश किया है।

(७) पुनर्जन्म—यहाँ अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म माने बिना नहीं होता।

गर्भ के प्रारम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो-जो कष्ट भोगने पड़ते हैं। वे क्या उस बालक की कृति के परिणाम हैं या उसके माता-पिता की कृति के ? उन्हें बालक की पूर्व जन्म की कृति के परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा-बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता की कृति का परिणाम कहें तो भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करें, उसका परिणाम बालक को बिना कारण क्यों भोगना पड़े ? बालक जो कुछ सुख-दुःख भोगता है, वह यों ही बिना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योंकि बिना कारण किसी कार्य का होना असंभव है। यदि यह कहा जाये कि माता-पिता के आहार-विहार का, आचार-विचार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरू होता है तो पुनः यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता-पिता का संयोग क्यों हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से बिलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं और बालक पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या, यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओं की रुचि जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती, उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियों में विचार और व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाये कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञान-तन्तुओं का है तो इस पर यह शंका होती है कि बालक की देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से बनी होती है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञान-तन्तु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से ? कहीं-कहीं माता-पिता की-सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सब तो विदित ही है कि एक साथ युगलरूप से जन्मे हुए दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देखभाल बराबर होने पर भी एक साधारण

ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक सदा पीछा रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुश्तीबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत। जो शक्ति महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य में थी, वह उनके माता-पिता में नहीं थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं थे, क्योंकि देवचन्द्र सूरि के उनके सिवाय और भी शिष्य थे। फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों के नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम प्रसिद्ध है। श्रीमती एनी बिसेंट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके माता-पिता में न थी और नहीं उनकी पुत्री में ही थी।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का परिणाम हैं, न माता-पिता के बल-संस्कार की और न केवल परिस्थिति की ही। इसलिए आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के प्रारम्भ समय से और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुए हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शंकाओं तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ, उसी के बल पर अनेक पूर्वजन्मों की परम्परा सिद्ध हो जाती है; क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा देह से भिन्न अनादि सिद्ध होती है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता, इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा गया है--

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। —गी०, अ० २, श्लोक १६

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल नहीं हो सकते। बहुत-से ऐसे लोग होते हैं कि जो इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री और दूसरे ऐसे भी देखे जाते हैं जो न्याय, नीति और धर्म का नाम भी सुनकर चिढ़ते हैं, परन्तु होते हैं सब तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो हैं तो स्वयं

दोषी और उनके दोषों का—अपराधों का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और दूसरा पकड़ा जाता है।

हमें इस पर भी विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का फल इस जन्म में नहीं मिला, क्या उनकी कृति यों ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती, यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है—सो भी ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब दूसरों के लिए ही नहीं करता। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्ति-संगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत पहुँचे हुए स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान योगी भी इसी विचार से अपने साध्य को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे रहते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में ही सही, किसी समय हम परमात्मभाव को प्रकट कर ही लेंगे।

शरीर के नाश होने के बाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाए तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? इसका चिन्तन आप स्वयं कर लें। औरों के लिए जो कुछ भी किया जाए, वह अपने लिए किये जाने वाले कार्यों के बराबर नहीं हो सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्त्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय में जितना बल प्रकट कर सकती है, उतना बल अन्य कोई भावना प्रकट नहीं कर सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है।

इन सब बातों पर ध्यान देने से यह माने बिना सन्तोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। जानते या अनजानते वह जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। तथागत बुद्ध ने भी पुनर्जन्म माना है। पश्चिमी [illegible] दार्शनिक विद्वान् [illegible] कर्मचक्र-कृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य

पूर्वोक्त संदर्भों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। वह न तो कभी बनी थी और न कभी इसका नाश होगा। वह शाश्वत है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा किसी भी प्रकार से दिखाई नहीं देती है तो हम उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार कर लें? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि देखना, स्पर्श होना आदि भौतिक पदार्थों का होता है। लेकिन आत्मा भौतिक पदार्थ नहीं है, अभौतिक है, इसलिए उसके देखने, स्पर्श होने की कल्पना नहीं की जानी चाहिए। वह तो अनुभूति द्वारा ही जानी जा सकती है।

साधारणतया यह कहा जाता है कि हम अपनी आँख से देखते हैं, कानों से सुनते हैं आदि। किन्तु यह सत्य नहीं है। ये इन्द्रियाँ तो उपकरण मात्र हैं, वास्तव में विषयों को ग्रहण करने की शक्ति तो आत्मा में है। वही आत्मा इन इन्द्रियों के माध्यम से देखने, स्पर्श करने आदि कार्यों को करती है।

इस सम्बन्ध में एक और तथ्य विचारणीय है। आँखें केवल देख सकती हैं, कान केवल सुन सकते हैं, नाक सूंघ सकती है, जीभ खट्टे-मीठे आदि रसों का स्वाद ले सकती है और त्वचा ठंडे-गरम आदि का अनुभव कर सकती है। यदि हम आँखें बन्द कर लें तो शरीर के अन्य अंग से देख नहीं सकते, यदि हम कान बन्द कर लें तो शरीर के किसी अन्य अंग से सुन नहीं सकते हैं आदि-आदि। परन्तु हमारे शरीर के अन्दर कोई एक ऐसी विलक्षण शक्ति विद्यमान है जो एक साथ देखना, सुनना, सूंघना आदि क्रिया कर सकती है और उस शक्ति का नाम ही आत्मा या चेतना है।

आत्मा का लक्षण ज्ञान है। हम यह कह सकते हैं कि जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान अर्थात् जानना है। ज्ञान और आत्मा एक-दूसरे से अभिन्न हैं। प्रत्येक जीवित प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी या सूक्ष्म कीट-पतंग, उसमें ज्ञान अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि विभिन्न आत्माओं पर कर्मों का आवरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होने के कारण भिन्न-भिन्न जीवों के ज्ञान में न्यूनाधिकता हो सकती है, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि जहाँ आत्मा हो, वहाँ ज्ञान न हो।

ज्ञान को यदि शरीर का लक्षण मानें तो बड़े शरीर में अधिक ज्ञान और छोटे शरीर में अपेक्षाकृत कम ज्ञान होना चाहिए। परन्तु यह बात अनुभव के विपरीत है। इसके अतिरिक्त शव में भी ज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा जो कि होता ही नहीं।

हम आत्मा के ज्ञान-गुण की तुलना सूर्य के प्रकाश से और कर्मों के आवरण की तुलना बादलों से कर सकते हैं। यद्यपि सूर्य में से प्रकाश तो सम्पूर्ण रूप से निकल रहा है परन्तु बादल आजाने से हम सूर्य के प्रकाश को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाते हैं। यदि बादल घने हों तो हमें प्रकाश बहुत कम मिल पाता है और जैसे-जैसे बादलों का घनत्व कम होता जाता है, हम अधिकाधिक प्रकाश पाते जाते हैं। यही बात ज्ञान के विकास और कर्मावरण के सम्बन्ध में घटित कर लेनी चाहिए।

प्रत्येक जीव में हर्ष-विषाद, प्रेम, घृणा आदि भावनाएं दिखती हैं। ये भावनाएँ जीव के भौतिक शरीर-पिण्ड की नहीं हैं। यदि ये भावनाएँ भौतिक पदार्थों की गुण होतीं तो उन्हें सदैव ही सब भौतिक पदार्थों में प्राप्त होना चाहिये था; परन्तु ऐसा होता नहीं है। ज्ञान की तरह ये भावनाएँ केवल जीवित प्राणियों में ही होती हैं। इसलिए ये भावनाएँ भी शरीर में विद्यमान किसी अभौतिक पदार्थ की अनुभूति कराती हैं और वह जो अभौतिक पदार्थ है, उसी का नाम आत्मा है।

एक प्रदेश में असंख्य आत्माओं के विद्यमान होने में भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्मा अभौतिक पदार्थ है। उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श—जो भौतिक पदार्थ के गुण हैं—नहीं हैं। इसलिए एक ही समय में, एक ही स्थान पर, एक

साथ असंख्य आत्माओं के विद्यमान होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे—एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश भी रह सकता है और दूसरे सहस्रों दीपकों का प्रकाश भी उसी कमरे में व्याप्त हो सकता है। इसमें किसी प्रकार से व्याघात (रुकावट) नहीं आता है। उन सब दीपकों का प्रकाश एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र है। इसी प्रकार एक ही समय में, एक ही स्थान पर असंख्य आत्माओं के बिलकुल स्वतन्त्र रूप से एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्रत्येक आत्मा अपने-अपने शरीर-प्रमाण है—न उससे कम और न उससे अधिक। आत्मा में सिकुड़ने और फैलने का गुण होता है, इसलिए वह अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शरीर के प्रमाण वाली हो जाती है, जैसे कि एक दीपक को छोटी सी कोठरी में रखने पर उसका प्रकाश उस कोठरी तक सीमित रहता है और जब उसी दीपक को एक बड़े कमरे में रखते हैं तो उसका प्रकाश उस बड़े कमरे में फैल जाता है। इसी तरह आत्मा के कीड़ी और कुंजर के शरीर में व्याप्त होने के बारे में समझना चाहिए।

कर्म का अनादित्व

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है और कर्मबन्ध होता रहता है। तो सहज ही मनुष्य के मन में विचार होता है कि आत्मा पहले है या कर्म पहले है। दोनों में से पहले कौन है और पीछे कौन है अथवा आत्मा की तरह कर्म भी अनादि है। यदि आत्मा पहले है तो जब से उसके साथ कर्म का बंध हुआ, तब से उसको सादि मानना पड़ेगा। जैनदर्शन में इसके उत्तर में कहा है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की हलचल किया करता है। हलचल का होना ही कर्मबन्ध का कारण है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है, किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला, इसको कोई नहीं जानता और न कोई बता सकता है। भविष्य काल की तरह भूतकाल भी अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और दूसरे

किसी शब्द द्वारा होना असंभव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

कुछ लोग अनादि की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबराकर कर्म-प्रवाह को सादि बतलाने लग जाते हैं, किन्तु अपनी बुद्धि से कल्पित दोष की आशंका करके उसे दूर करने के प्रयत्न में दूसरे बड़े दोष को स्वीकार कर लेते हैं कि यदि कर्म-प्रवाह की आदि मानते हैं तो जीव को पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिए, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण ? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्मलिप्त होंगे और उस स्थिति में मुक्ति को सोया हुआ संसार ही कहना चाहिए। कर्म-प्रवाह के अनादित्व और मुक्त जीवों को पुनः संसार में न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शनों ने माना है।

प्रवाह-संतति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म के अनादि सम्बन्ध और व्यक्ति की अपेक्षा सादि सम्बन्ध को [illegible] समझाने के लिए आचार्यों ने कहा है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायन्ते।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥[1]

जीव के साथ कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध को इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, बीज और वृक्ष का अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह-संतति की अपेक्षा अनादि-कालीन सम्बन्ध स्वयंसिद्ध जानना चाहिए। अर्थात् संसारी जीवों के मन, वचन,

---

१. पंचास्तिकाय

काया में परिस्पन्दन होता है और उससे कर्मों का आस्रव होने से गति आदि होती है। गति होने पर देह और देह में इन्द्रियाँ बनती हैं, उनसे विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष उत्पन्न होता रहता है और फिर इन राग-द्वेषरूप भावों से संसार का चक्र चलता रहता है।

अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त सम्भव है ?

जो अनादि होता है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, ऐसा सामान्य नियम है। लेकिन कर्म और आत्मा के अनादि सम्बन्ध के बारे में यह नियम सार्व-कालिक नहीं है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सम्बन्ध है, तथापि वे प्रयत्न-विशेष से पृथक-पृथक होते देखे जाते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का भी अन्त होता है। यह स्मरणीय है कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है, किसी एक कर्म-विशेष का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक हो जाता है और नवीन कर्म का बंध होता रहता है। इस प्रकार से प्रवाहरूप से कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिशः अनादि नहीं है और तप-संयम के द्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा प्रयत्न-विशेषों से नष्ट हो जाती है और पुनः नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है।

आत्मा और कर्म में बलवान कौन ?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अतः कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं और कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर के भी काटती रहती है, परन्तु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणति से कर्मों का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता भी रखती है। कर्म चाहे कितने भी शक्तिशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उनसे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है, किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-

टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नहीं होता, तब तक वह कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन-सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्न कर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है।

कर्मसिद्धान्त का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

अध्यात्मशास्त्र—अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी विषयों का विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप ठीक-ठीक जाने बिना उसके बाद का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं हैं? इसलिए अध्यात्मशास्त्र के लिए आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उत्पत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यह काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्मजन्य बतलाकर उससे आत्मा के स्वभाव की पृथकता की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंग है।

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य यदि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय, तब भी कर्मशास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आने वाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न हो, तब तक दृष्टि आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के (वर्तमान के) सब रूप मायिक या वैभाविक हैं, तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना, यह भी अध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषद, गीता आदि में जैसे विचार पाये जाते हैं, वैसे ही कर्मशास्त्र में भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव

ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का कर्ममुक्त होकर अपने परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मस्वरूप-मय हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञानकला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना चंद्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्मबुद्धि रखना अर्थात् जड़ में अहंत्व करना बाह्यदृष्टि है। इस अभेद भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा कर्मशास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गये हैं उन्हें कर्मशास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सचाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता है।

शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर कराकर उसके भेदज्ञान को, विवेकख्याति को कर्मशास्त्र प्रगट करता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में विद्यमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना—यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्मभाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से कर्मशास्त्र ने अपने ऊपर ले रखा है; क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेदज्ञान की तरफ झुकाकर फिर स्वाभाविक अभेदज्ञान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। साथ ही, योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। यही उसका महत्व है।

शरीरशास्त्र—आत्मा के साथ कर्म का निकटतम सम्बन्ध है। शुद्ध, निष्कर्म आत्मा होने के पूर्व उसकी अशुद्ध स्थिति, कारणों आदि का कथन कर्मशास्त्र में है। अशुद्ध स्थिति में आत्मा का कोई-न-कोई शरीर, इन्द्रिय आदि होती हैं। अतः इनका भी वर्णन कर्मशास्त्र में यथास्थान किया जाता है। वैसे तो शरीर निर्माण के तत्त्व, उसके स्थूल-सूक्ष्म प्रकार, उसके वृद्धि-ह्रास-क्रम आदि का विचार शरीरशास्त्र में किया जाता है और वास्तव में यह शरीरशास्त्र का

विषय है, लेकिन कर्मशास्त्र में भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है, जोकि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं।

कर्मसिद्धान्त में शरीर सम्बन्धी बातें चाहे पुरातन पद्धति से कही गई हैं। लेकिन इतने मात्र से उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। मुख्य रूप से यह देखना है कि कर्मशास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारणभूत तत्त्वों का व्यवस्थित रीति से कथन किया गया है और उनकी शोध करके नवीनता भी लायी जा सकती है और शास्त्र की महत्ता भी सिद्ध की जा सकती है।

भाषा-शास्त्र—इसी प्रकार कर्मशास्त्र में भाषा व इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है, उसके बनने में कितना समय लगता है। उसकी रचना के लिए आत्मा अपनी शक्ति का किस तरह प्रयोग करती है और किस साधन द्वारा करती है। भाषा की सत्यता, असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस जाति के प्राणी में किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है इत्यादि भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार कर्मशास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियां कितनी हैं, कैसी हैं, उनके कैसे-कैसे भेद और कैसी-कैसी शक्तियां हैं? किस-किस प्राणी को कितनी-कितनी इन्द्रियां प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है, इनका कैसा-कैसा आकार है, इत्यादि इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रकार के विचार कर्मशास्त्र में पाये जाते हैं।

यह हो सकता है कि ये सब विचार उसमें क्रमबद्ध नहीं भी मिलते हों किन्तु वह ध्यान में रहे कि कर्मशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय और ही है और उसी के वर्णन के प्रसंग में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार आवश्यकतानुसार किया गया है। इसलिए संभवतः व्यवस्थित संकलना न हो पाई हो, तो भी इससे कर्मशास्त्र की त्रुटि सिद्ध नहीं होती है, बल्कि इसको तो अनेक शास्त्रों के विषय की चर्चा करने का गौरव ही कहा जाएगा।

कर्मसिद्धान्त का साध्य : प्रयोजन

कर्मसिद्धान्त का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ इसके उत्तर में व्यावहारिक दृष्टि से निम्नलिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया कहे जा सकते हैं—

(१) वैदिक धर्म की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता के भ्रान्त अंश को दूर करना।

(२) बौद्धधर्म के एकान्त क्षणिकवाद की अयुक्तता को स्पष्ट करना।

(३) आत्मा को जड़ तत्त्व से भिन्न स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व स्थापित करना।

इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) महावीरकालीन भारतवर्ष में जैनधर्म के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयों में नितान्त भिन्न थे। मूल वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर-विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्वसाधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीव से भोगवाता है, कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते। चाहे कितनी ही उच्चकोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर नहीं हो सकता; जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय संसार से निस्तार भी नहीं हो सकता इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास में ये तीन भूलें थीं—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना। (२) आत्मस्वातंत्र्य का दब जाना। (३) कर्म की शक्ति का अज्ञान। इन भूलों का परिमार्जन करने और यथार्थ वस्तुस्थिति को बतलाने के लिए भगवान महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि बौद्धधर्म में ईश्वर-कर्तृत्व का निषेध किया गया था किन्तु बुद्ध का उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोकने और करुणाभाव को फैलाने का था और उनकी तत्त्वप्रतिपादन की शैली भी तत्कालीन उद्देश्य के अनुरूप ही थी। तथागत बुद्ध कर्म और उसका विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त में क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया गया था। इसलिए भगवान महावीर का कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादन का एक यह भी उद्देश्य था कि यदि आत्मा को क्षणिकमात्र मान लिया जाय तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति ही नहीं हो सकती। स्वकृत

कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जबकि आत्मा न तो एकान्त नित्य माना जाए और न एकान्त क्षणिक।

भौतिकवादी आज की तरह उस समय भी थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते थे। यह दृष्टि बहुत ही संकुचित थी, जिसका कर्मसिद्धान्त के द्वारा निराकरण किया गया।

कर्मसिद्धान्त-विचार : ऐतिहासिक समीक्षा

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व के विवेचन को अनादि माना है। जैन इसका समर्थन वैसे ही करते आये हैं, जैसे मीमांसक वेदों के अनादित्व की मान्यता का करते हैं। बुद्धि-अप्रयोगी और बुद्धि-प्रयोगी दोनों प्रकार के श्रद्धालु मानते आये हैं और बुद्धिप्रयोगी तो श्रद्धा से मान ही नहीं लेते किन्तु उसका बुद्धि के द्वारा यथासम्भव समर्थन भी करते हैं। उक्त दृष्टि से कर्मतत्त्व की विचारणा का महत्त्व तो है ही; लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार किया जाना उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मतत्त्व सम्बन्धी विचार-परम्परा की शृंखला में पहला प्रश्न है कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ ही नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ है। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाध्य नहीं था जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यह पक्ष चार्वाक के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु उस पुराने युग में ऐसे भी चिन्तक थे, जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नहीं, इस दृश्यमान लोक के अलावा अन्य श्रेष्ठ और कनिष्ठ लोक भी हैं। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप में कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

इन कर्मवादियों के भी मुख्य दो दल रहे हैं। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्म-जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, परन्तु श्रेष्ठ जन्म और श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा स्वर्ग को श्रेष्ठलोक मानने वाला होने और उसके साधन रूप में धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से धर्म, अर्थ, काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था। इसकी दृष्टि में मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप में स्थान न था।

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता है, वह इसी त्रिपुरुषार्थवादी दल के मन्तव्य का सूचक है। यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य, शिष्ट एवं विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति तथा निंद्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर एक तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था। यही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मन्तव्य संक्षेप में इस प्रकार है:—

धर्म—शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि हैं। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा जन्म-जन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चलती रहती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। यदि शक्य है, तो इतना कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो धर्म ही कर्त्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय है परन्तु धर्म या पुण्य हेय नहीं।

कर्मवादियों का दूसरा दल उपर्युक्त दल से सर्वथा विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। वह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट, सम्मत एवं विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है, परन्तु वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा पुरुषार्थ भी है, जो मोक्ष कहा जाता है। इसका कथन है कि एक मात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप—हेय है। यह नहीं कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है।

जहाँ कहीं भी निवर्तक धर्म का उल्लेख आता है, वहाँ सर्वत्र इसी मत का

संकेत है। इस मत के अनुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति इष्ट है, तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं किन्तु अज्ञान और रागद्वेष हैं। कैसा भी शिष्ट, सम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यों न हो, पर वह अज्ञान एवं राग-द्वेषमूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टि वालों के लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेषमूलक होने से अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तकधर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्ति-विकासवादी रहा। जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया, तब इसे कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणों पर भी विचार करना पड़ा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्म-निवर्तक कारण स्थिर किये, वही इस दल का निवर्तकधर्म है।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा परस्पर बिलकुल विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और सुव्यवस्था का निर्माण है, जबकि दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव वह मात्र आत्मगामी है। निवर्तकधर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेषजनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञानविरोधी सम्यक्ज्ञान और राग-द्वेषविरोधी राग-द्वेष-नाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधन रूप से माने गये।

निवर्तक-धर्मावलंबियों में अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्षभेद कुछ तो वादों की स्वभावमूलक उग्रता-मृदुता का आभारी था और कुछ अंशों में तत्त्वज्ञान की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया पर भी अवलम्बित था। उनके तीन पक्ष जान पड़ते हैं—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी (३) परमाणु होकर भी प्रधान की छाया वाला। इनमें से पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तक-धर्म का उतना विरोधी न था, जितने कि पिछले दो। यही पक्ष-न्याय, वैशेषिक दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तककर्म, अर्थात् श्रौत-स्मार्तकर्म को भी हेय बतलाता

था। यही पक्ष सांख्य-योग नाम से प्रसिद्ध है और इसी के तत्त्वज्ञान की भूमिका के ऊपर तथा इसी के निवृत्तिवाद की छाया में आगे जाकर वेदान्त दर्शन और संन्यास-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधान छायापक्ष, अर्थात् परिणामी परमाणुवादी का था, जो दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तकधर्म का आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एवं निर्ग्रन्थदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धदर्शन प्रवर्तकधर्म का आत्यन्तिक विरोधी है, पर वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। परन्तु सभी निवर्तकवादियों का सर्वमान्य सामान्य लक्ष्य यह है कि किसी-न-किसी प्रकार कर्मों की जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी मात्र प्रवर्तकधर्म प्रचलित रहा हो, और निवर्तकधर्म का पीछे से प्रादुर्भाव हुआ हो। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है, जबकि समाज में प्रवर्तकधर्म की प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक-धर्म व्यक्तियों तक ही सीमित होने के कारण प्रवर्तकधर्मवादियों की तरफ से न केवल उपेक्षित ही था, बल्कि उसके विरोध के आघात भी सहता रहा। परन्तु निवर्तकधर्मवादियों की पृथक-पृथक परम्पराओं ने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्वों का क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्म के होते हुए भी सारे समाज पर एक तरह से निवर्तकधर्म की प्रतिष्ठा की मुहर लग गई और जहाँ देखो वहाँ निवृत्ति की चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्ति के विचारों से ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निवर्तकधर्मवादियों को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनों के विषय में तो ऊहापोह करना ही पड़ता था; पर इसके साथ उनको कर्मतत्त्वों के विषय में भी बहुत विचार करना पड़ा। उन्होंने कर्म तथा उसके भेदों की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ स्थिर कीं, कार्य और कारण की दृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध वर्गी-करण किया, कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया, प्रत्येक के विपाकों की काल-मर्यादाएँ सोचीं, कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तकधर्मवादियों का अच्छा-खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित

हो गया और इसमें दिन-प्रति-दिन नये-नये प्रश्नों और उनके उत्तरों के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा।

ये निवर्तकवादी विभिन्न पक्ष अपने-अपने सुभीते के अनुसार पृथक्-पृथक् विचार करते रहे, परन्तु जब तक इन सबका सम्मिलित ध्येय प्रवर्तकधर्मवाद का खण्डन रहा, तब तक उनमें विचार-विनिमय भी होता रहा और एकवाक्यता भी रही। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्धदर्शन में कर्म-विषयक साहित्य में परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखने में आता है। जबकि उक्त दर्शनों का विद्यमान साहित्य उस समय की अधिकांश पैदाइश है, जिस समय कि उक्त दर्शनों का परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था।

मोक्षवादियों के सामने एक समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्ध कर्म भी अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगने के समय प्रत्येक क्षण में नये-नये कर्म बंधते हैं, फिर इन सब कर्मों का सर्वथा उच्छेद कैसे सम्भव है? इस समस्या का समाधान भी मोक्षवादियों ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में उस समाधान का वर्णन संक्षेप या विस्तार में एक-सा पाते हैं।

यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तकवादियों के भिन्न-भिन्न पक्षों में खूब विचार-विनियम होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया था, जबकि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस में पहले जैसे निकट न रहे। फिर भी हर एक पक्ष कर्मतत्त्व के विषय में ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष में एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया, जो मोक्ष सम्बन्धी प्रश्नों की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था, जैसा कि अन्य-अन्य विषय के चिन्तक वर्ग अपने-अपने विषय में किया करते थे और आज भी करते हैं।

कर्म के बन्धक कारणों और उसके उच्छेदक उपायों के बारे में सभी मोक्षवादी गौण-मुख्यभाव से एकमत हैं ही पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट चिन्तक वर्ग के मन्तव्य में अन्तर है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी

वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बतलाते थे, जबकि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी मानने वाले जैन चिन्तक अपनी स्वतन्त्र प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणामरूप से उभयरूप मानते हैं। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्य के प्राकृत अन्तःकरण की तरह संकोच-विकासशील है, जिसमें कर्मरूप विकार भी सम्भव है और जो जड़ परमाणुओं के साथ एकरस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतनधर्म होने से वस्तुतः चेतन से अलग नहीं और सांख्य के अनुसार कर्म प्रकृतिधर्म होने से वस्तुतः जड़ से पृथक् नहीं, जबकि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभयरूप ही फलित होता है, जिसे वे भाव और द्रव्य कर्म कहते हैं।

यह सब कर्मतत्त्व सम्बन्धी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है, जबकि कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचार-विनिमय अधिकाधिक होता था। वह सारा सिद्धान्त पुराना है, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैनदर्शन में कर्मशास्त्र का जो चिरकालीन संस्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है, उसे ध्यान में रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन-दर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के कारण जैन कर्मशास्त्रज्ञ कहलाये और यही विद्या अग्रायणीयपूर्व तथा कर्मप्रवादपूर्व के नाम से विश्रुत हुई।

जैन चिन्तकों ने कर्म-तत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया, जबकि सांख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए, तब उन्होंने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने विरासत में मिले कर्मचिन्तन का रूप अपना रखा है। यही कारण है कि सूक्ष्मता और विस्तार में जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य-योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कर्म-चिन्तकों के साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूल में एकता भी है; जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है।

जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त

भारतवर्ष दार्शनिक चिन्तन की पुण्यभूमि है। यहाँ के मर्न ने जीवन के गम्भीर प्रश्नों पर चिन्तन-मनन करना अधिक एतदर्थ यहाँ आत्मा-परमात्मा, लोकस्वरूप, कर्म, कर्मफल आ चिन्तन-मनन व विवेचन किया गया है। वस्तुतः यह चिन्तन का मेरुदण्ड है।

अध्यात्मवादी भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कर्म-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख-दुःख एवं विभिन्न प्रकार की सांसारिक विचित्रताओं के कारणों की खोज करते हुए भारतीय चिन्तकों ने कर्मसिद्धान्त का अन्वेषण किया तथापि इसका जो सुव्यवस्थित और सुविकसित रूप जैनदर्शन में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र क्रमबद्ध रूप से प्राप्त नहीं होता है। इसलिए यहाँ जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त-विषयक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

कर्म का लक्षण

राग-द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के अन्दर प्रति समय परिस्पंदन रूप जो क्रिया होती रहती है, उसको सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वह द्रव्य सुख-दुःख फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं। अर्थात मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि से जीव के द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।[1]

---

[1] (क) कीरइ जीएण हेउहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।

—कर्मग्रन्थ, भाग १।१

(ख) विसय कसायहि रंगियहं जे अणुयालग्गंति।

जीव पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति॥

—परमात्म प्रकाश १।६२

कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के जिन राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है उन भावों का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ संबद्ध होता है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

भावकर्म और द्रव्यकर्म का विशेष विवेचन

भावकर्म - जैनदर्शन में कर्मबन्ध के विस्तार से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कारण बतलाये हैं और इनको क्रमशः संक्षेप करते हुए, इनका संक्षिप्त रूप अन्तिम दो कारणों—कषाय और योग में किया हुआ मिलता है। इन दो कारणों को भी अधिक संक्षेप में कहा जाय तो कषाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यों तो कषाय के अतिरिक्त विकार के अन्य अनेक कारण हैं, पर उन सबका संक्षेप में वर्गीकरण करके अध्यात्मवादियों ने राग और द्वेष ये दो ही प्रकार कहे हैं; क्योंकि कोई भी मानसिक विचार हो वह या तो राग (आसक्ति) रूप है या द्वेष (घृणा) रूप है। अनुभव से भी यही सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति चाहे ऊपर से कैसी ही क्यों न दीख पड़े परन्तु वह या तो रागमूलक होती है या द्वेषमूलक। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या न जान सके पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का कारण उसके राग और द्वेष ही होते हैं।

मकड़ी जैसे अपनी प्रवृत्ति से अपने बनाये हुए जाल में फँसती रहती है, वैसे ही जीव भी अपनी प्रवृत्ति से कर्म के जाल को अज्ञान-मोहवश रच लेता है और उसमें फँसता रहता है। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं, वे भी राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही। राग की या द्वेष की मात्रा बढ़ी कि ज्ञान विपरीत रूप में बदलने लगता है।

इसमें शब्दभेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध में अन्य किसी भी आस्तिक दर्शन के साथ जैनदर्शन का कोई मतभेद नहीं है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों में मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति और पुरुष के अभेद-ज्ञान को, वेदान्त आदि दर्शनों में अविद्या को और जैनदर्शन में मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का कारण बतलाया है; लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय पर यदि उसमें कर्म की

बंधकर्ता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही है। राग-द्वेष का अभाव होते ही अज्ञानपना (मिथ्यात्व) नाम या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा बंध्यते जन्तु' इस कथन में भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष से ही है।

इस प्रकार मिथ्यात्वादि किसी नाम से कहें या राग-द्वेष कहें ये सब भाव-कर्म कहलाते हैं।

द्रव्यकर्म—पूर्वोक्त कथन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेषजनित शारीरिक-मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है लेकिन जो क्रिया कषायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मबन्ध विशेष बलवान होता है और कषायरहित क्रिया से होने वाला कर्मबन्धन निर्बल और अल्प स्थिति वाला होता है, उसे नष्ट करने में अल्प शक्ति और अल्प समय लगता है।

जैनदर्शन में कर्मबन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। उसकी मान्यतानुसार संसार में दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं--(१) चेतन और (२) अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाँच प्रकार के हैं-- धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल। इनमें से प्रथम चार प्रकार के द्रव्य अमूर्तिक एवं अरूपी हैं। अतः वे इन्द्रियों के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य हैं। केवल एक पुद्‌गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है और पकड़ा तथा छोड़ा भी जाता है। 'पूरणाद्‌गलनाद् पुद्‌गलः' इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और बिछुड़ना उसका स्वभाव ही है। इस पुद्‌गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्यरूप वर्गणाएँ होती हैं। इनमें से एक कर्म-वर्गणाएँ भी हैं। लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ से कर्मयोग्य पुद्‌गल वर्गणाएँ—पुद्‌गल परमाणु विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा काय से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म-योग्य पुद्‌गल परमाणुओं का आकर्षण होता है और जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान वे पुद्‌गल परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में

अधिकता होने पर परमाणुओं की संख्या में अधिकता होती है और प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर परमाणुओं की संख्या में न्यूनता होती है और इन गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्म-रूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्यकर्म कहलाता है।

चार प्रकार के बंध

इन द्रव्यकर्मों का क्रमशः प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध और स्थितिबंध — इन चार भेदों में वर्गीकरण कर लिया जाता है।

आत्मा की योग और कषायरूप परिणति में से योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तथा कषाय से अनुभाग व स्थितिबंध होते हैं। कषाय के अभाव में कर्म आत्मा के साथ संश्लिष्ट नहीं रह सकते हैं। जैसे सूखे वस्त्र पर धूल अच्छी तरह न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है, वैसे ही आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म परमाणु भी संश्लिष्ट न होते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाते हैं।

मन, वचन, कायारूप योगों की परिस्पन्दनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, किन्तु उन्हें कषायों का सहयोग न मिले तो वे कर्मबंध के लिए सक्रिय योग नहीं दे पाते हैं। इसलिए यत्नपूर्वक होने वाली चलने-फिरने आदि की आवश्यक क्रियाओं से होनेवाला निर्बल कर्मबन्ध असांपरायिक बंध कहलाता है और कषायों सहित होने वाली योग की प्रवृत्ति को सांपरायिक बंध कहते हैं। असांपरायिक बंध भवभ्रमण का कारण नहीं होता और सांपरायिक बंध से ही प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है।

प्रकृतिबंध का विवेचन

आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मपरमाणुओं में आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को आवृत करने की शक्तियाँ (स्वभाव) उत्पन्न होती हैं; उसे प्रकृतिबंध के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा में अनन्त गुण हैं। अतः उनको आवृत करने वाले कर्मों के स्वभाव भी अनन्त माने जायेंगे; लेकिन उन सबका निम्नलिखित आठ कर्मों में समाहार कर लिया जाता है—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय,

(५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अंतराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—ये चार घाती प्रकृतियाँ और शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार अघाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

घाती प्रकृतियों से आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य शक्ति) का घात होता है, अर्थात् ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है, दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है, मोहनीय सुख (आत्मसुख) के लिए घातक है और अंतराय द्वारा आत्मा के वीर्य—शक्ति का घात होता है। आत्मा के मूल गुणों को आवृत करने, घात करने से इन चार को घाती कर्मप्रकृति कहते हैं। इन चार घाती प्रकृतियों के उत्तरभेदों में से कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो आंशिक—एकदेश-घात करती हैं, अतः उनको देशघाती और कुछ पूर्णतः—सर्वांश घात करने वाली होने से सर्वघाती कही जाती हैं।

अघाती कर्मप्रकृतियाँ आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती हैं, लेकिन वे आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु पौद्गलिक—भौतिक है। वेदनीय अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख का कारण है। आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नाम के द्वारा जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं और गोत्र प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण होता है।

उक्त घाती और अघाती रूप में कही गयी ज्ञानावरण आदि मूल कर्मों की कुल मिलाकर १५८ उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म	५
(२) दर्शनावरणीयकर्म	९
(३) वेदनीयकर्म	२
(४) मोहनीयकर्म	२८
(५) आयुकर्म	४
(६) नामकर्म	१०३
(७) गोत्रकर्म	२
(८) अंतरायकर्म	५
योग	१५८

उक्त १५८ प्रकृतियों के नाम और लक्षण इसी ग्रन्थ (कर्मविपाक, प्रथम कर्मग्रन्थ) में कहे गये हैं, अतः जिज्ञासु जनों द्वारा वहाँ द्रष्टव्य हैं।

प्रदेशबन्ध का वर्णन

जीव अपनी कायिक आदि क्रियाओं द्वारा जितने कर्मप्रदेशों, अर्थात् कर्मपरमाणुओं का संग्रह करता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं। ये प्रदेश विविध प्रकार के कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ संबद्ध रहते हैं। उनमें से आयुकर्म को सबसे कम हिस्सा और आयुकर्म की अपेक्षा नामकर्म को कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्रकर्म का हिस्सा नामकर्म के बराबर है। इससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों को प्राप्त होता है। इन तीनों का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय-कर्म को प्राप्त होता है और सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तरप्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बद्ध कर्म के प्रदेशों की न्यूनाधिकता का यही आधार है।

स्थितिबन्ध का वर्णन

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की अधिकतम और न्यूनतम समय की विभिन्न स्थितियाँ (उदय में रहने का काल) निम्न प्रकार से कर्म साहित्य में बतलाई गई हैं—

कर्म-नाम	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
(१) ज्ञानावरणीय	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(२) दर्शनावरणीय	,,	,,
(३) वेदनीय	,,	१२ मुहूर्त
(४) मोहनीय	७० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(५) आयु	३३ सागरोपम	,,
(६) नाम	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहूर्त
(७) गोत्र	,,	८ मुहूर्त
(८) अन्तराय	३० ,,	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि समय के विविध भेदों के स्वरूप को समझने के लिए अनुयोगद्वार आदि सूत्रों का अवलोकन करना चाहिए। इससे कालगणना विषयक जैन मान्यता का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

अनुभागबंध (रसिबंध-मंडल) का वर्णन

कर्मफल की तीव्रता और मंदता का आधार तन्निमित्तक कषायों की तीव्रता और मंदता है। जो प्राणी जितनी अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा, उसके पापकर्म अर्थात् अशुभकर्म उतने ही प्रबल एवं पुण्यकर्म अर्थात शुभकर्म उतने ही निर्बल होंगे और इसके विपरीत जो प्राणी जितना कषाय की तीव्रता से मुक्त एवं विशुद्ध परिणाम वाला होगा, उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एवं पापकर्म उतने ही अधिक निर्बल होंगे।

जैन-कर्मशास्त्र के अनुसार कर्मफल की तीव्रता और मन्दता के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण है।

कर्म की विविध अवस्थाएं

जैनकर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इनका सम्बन्ध कर्म के बंध, उदय, परिवर्तन, सत्ता, क्षय आदि से है। जिनका मोटे तौर पर निम्नलिखित भेदों में वर्गीकरण किया गया है—

(१) बंधन, (२) सत्ता, (३) उदय, (४) उदीरणा, (५) उद्वर्तना, (६) अपवर्तना, (७) संक्रमण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचन और (११) अबाधा।

(१) **बंधन**—आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओं का बंधना, अर्थात् नीरक्षीरवत् एकरूप हो जाना बंधन कहलाता है। बंधन चार प्रकार का होता है—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

(२) **सत्ता**—बद्ध कर्मपरमाणु अपनी निर्जरा अर्थात क्षयपर्यन्त आत्मा में सम्बद्ध रहते हैं। इस अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए भी विद्यमान रहते हैं।

(३) **उदय**—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं।

उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

(४) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है। सामान्यतया जिस कर्म का उदय चालू रहता है, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सम्भव होती है।

(५) **उद्वर्तना**—बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में भाव-विशेष, अध्यवसाय-विशेष के कारण वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है। इसको उत्कर्षण भी कहते हैं।

(६) **अपवर्तना**—यह अवस्था उद्वर्तना से बिलकुल विपरीत है। बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय-विशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। इसका दूसरा नाम अपकर्षणा भी है।

उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों अवस्थाओं की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि अध्यवसाय-विशेष से किसी कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में परिवर्तन भी हो सकता है।

(७) **संक्रमण**—एक प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है।

यह संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तरप्रकृतियों में ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं। संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही माना गया है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं होता है। सजातीय प्रकृतियों के संक्रमण में भी कुछ अपवाद हैं, जैसे कि आयुकर्म की नरकायु आदि चारों आयुओं में परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय में।

(८) **उपशमन**—कर्म की जिस अवस्था में उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना सम्भव नहीं होती, उसे उपशमन कहते हैं।

उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

(९) निधत्ति—कर्म की उदीरणा, संक्रमण आदि के सर्वथा अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते हैं। इस स्थिति में उद्वर्तना और अपवर्तना की संभावना रहती है।

(१०) निकाचन—इस अवस्था का अर्थ है कि कर्म का जिस रूप में बंध हुआ है, उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना। इस अवस्था का नाम नियति भी कह सकते हैं। किसी-किसी कर्म की यह अवस्था भी होती है।

(११) अबाध—कर्म का बँधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना, अबाध अवस्था है। यह सत्ता का एक अंश है। फिर भी अबाध और सत्ता में अन्तर है। बंध से लेकर निर्जीर्ण होने तक की अवस्था को सत्ता कहते हैं लेकिन अबाध अवस्था ऐसी सत्ता है जिसमें बद्ध कर्म यथारूप में बना रहता है। यह उदय से पूर्व की अवस्था है। इस अवस्था के काल को अबाधा काल कहते हैं।

अन्य-अन्य दार्शनिक परम्पराओं में उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए संचित, बंधन के लिए क्रियमाण, निकाचन के लिए नियत विपाकी, संक्रमण के लिए आवापगमन, उपशमन के लिए तनु आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

बंध, उदय-उदीरणा, सत्ता का स्पष्टीकरण

आठ कर्मों की १५८ उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से बंध आदि में कितनी-कितनी प्रकृतियाँ होती हैं, इसका विशद वर्णन जैन-कर्मशास्त्रों में किया गया है। तदनुसार बंध में १२०, उदय और उदीरणा में १२२ और सत्ता में १५८ प्रकृतियाँ मानी गयी हैं।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि सत्ता में तो समस्त १५८ प्रकृतियाँ होती हैं, जबकि उदय और उदीरणा में १५ बंधन और ५ संघातन नामकर्म की २० प्रकृतियाँ अलग से नहीं गिनी जातीं, किन्तु इनका औदारिक आदि

पाँच शरीर नामकर्मों में ही समावेश कर दिया जाता है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-नाम इन चार पिंडप्रकृतियों की २० उत्तरप्रकृतियों के स्थान पर केवल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं। इस प्रकार कुल १५८ प्रकृतियों में से नाम-कर्म की ३६ (२० और १६) प्रकृतियाँ कम कर देने से १२२ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जो उदय और उदीरणा में आती हैं। बंधावस्था में १२० प्रकृतियों का अस्तित्व मानने का कारण यह है कि उदय-उदीरणायोग्य १२२ प्रकृतियों में से दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय का अलग से बंध न होकर सिर्फ मिथ्यात्व-मोहनीय के रूप में ही बंध होता है, क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय मिथ्यात्वमोहनीय की ही विशोधित अवस्थाएँ हैं। अतएव इन दो प्रकृतियों को उदय-उदीरणा की उपर्युक्त १२२ प्रकृतियों में से कम कर देने पर १२० प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, जो बंधावस्था में विद्यमान रहती हैं। निम्नलिखित तालिका से सत्ता आदि अवस्थाओं में विद्यमान रहने वाली प्रकृतियों की संख्या का स्पष्टतया परिज्ञान हो जाता है—

कर्म का नाम	बंध	उदय-उदीरणा	सत्ता
(१) ज्ञानावरणीयकर्म	५	५	५
(२) दर्शनावरणीयकर्म	९	९	९
(३) वेदनीयकर्म	२	२	२
(४) मोहनीयकर्म	२६	२८	२८
(५) आयुकर्म	४	४	४
(६) नामकर्म	६७	६७	१०३
(७) गोत्रकर्म	२	२	२
(८) अन्तरायकर्म	५	५	५

कर्मक्षय की प्रक्रिया

योग और कषाय के द्वारा प्रतिक्षण संसारी प्राणी जिस प्रकार कर्मबन्ध करता रहता है, उसी प्रकार कर्मक्षय का भी क्रम निरन्तर चालू रहता है।

कर्म बंधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते हैं—कुछ समय ऐसे ही पड़े रहते हैं। इस फलहीन स्थिति को अबाधा काल कहते हैं। अबाधा काल के व्यतीत होने पर बद्ध कर्म का फल देना प्रारम्भ होता है, जिसे उदय कहते हैं। प्रत्येक कर्म अपनी बंध स्थिति के अनुसार उतने समय तक उदय में आता है और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाता है, जिसे निर्जरा कहते हैं, अर्थात् कर्मस्थिति के बराबर ही कर्म-निर्जरा का भी समय है। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तब प्राणी सर्वांशतः कर्ममुक्त होकर अपने सत्-चित्-आनन्दघन-रूप स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

संसारी जीव के द्वारा कर्मों के बंध और क्षय का क्रम सदैव चलता रहता है। समस्त संसारी जीव नरकादि चार गतियों में से किसी-न-किसी गति के धारक होते हैं, वहाँ उनकी कितनी इन्द्रियाँ होती हैं, कौन-सा शरीर होता है, कितने योग आदि होते हैं, इस प्रकार का वर्गीकरण जैन-कर्मशास्त्र में मार्गणा स्थान द्वारा किया है। मार्गणा-स्थान के निम्नलिखित चौदह भेद हैं—

गति, इन्द्रिय, शरीर, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक। प्रत्येक के साथ मार्गणा शब्द जोड़ देने से पूरा नाम हो जाता है; जैसे—गति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणा आदि।

इन मार्गणाओं के माध्यम से समस्त संसारी जीवों के शरीर आदि बाह्य स्थिति और आन्तरिक ज्ञान-शक्ति आदि का पूर्णतया वर्गीकरण हो जाता है। जैसे नरक गति वाला जीव है तो उसके कौन-सा शरीर होगा, कितनी इन्द्रियाँ होंगी तथा इस बाह्य स्थिति के साथ ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि की कितनी क्षमता है, यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार की बाह्य और आन्तर स्थिति के होने पर प्रत्येक जीव किस स्थिति वाले कर्मों का बंध करता है और क्रमशः निर्जरा करते हुए आत्मा में कहाँ तक विशुद्धता ला सकता है और इस विशुद्धता के फलस्वरूप क्रमशः कर्मों के क्षय का क्रम तथा विशुद्धि से प्राप्त गुणों के स्थान आदि का वर्णन कर्मशास्त्र में गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है। ये गुणस्थान भी मार्गणाओं की तरह चौदह होते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र (सम्यग्-मिथ्यादृष्टि), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, निवृत्ति (अपूर्वकरण), अनिवृत्तबादर संपराय, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त कषाय-छद्मस्थ, क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ, सयोगि-केवली, अयोगि-केवली। प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ने से उसका पूरा नाम हो जाता है; जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन गुणस्थान आदि।

ये गुणस्थान जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होते हैं। इनमें मिथ्यात्व गुणस्थान अशुद्धतम और अयोगिकेवली गुणस्थान शुद्धतम दशा है। संसारी जीव अशुद्धि से शुद्धि की ओर बढ़ते हुए जैसे-जैसे कर्मों का क्षय करता जाता है, वैसे-वैसे शुद्धि भी बढ़ती जाती है और शुद्धि के बढ़ने से कर्मों का क्षय अधिक और कर्मों का बन्ध कम होता जाता है। बन्ध कम और क्षय अधिक होने से एक ऐसा समय आ जाता है, जब संसारी जीव समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त अवस्था को प्राप्त कर जन्म-मरण-रूप संसार से सदा के लिए छूट जाता है।

इस प्रकार जैन-कर्मशास्त्र में मार्गणाओं के द्वारा समस्त संसारी जीवों का वर्गीकरण किया गया है और गुणस्थानों के द्वारा क्रमिक शुद्धि का क्रम बतलाते हुए पूर्ण शुद्ध अवस्था का चित्रण है।

कर्मक्षय करने के साधन

अब यह विचार करते हैं कि कर्म-आवृत जीव को अपने परमात्मभाव को प्रगट करने के लिए किन साधनों की अपेक्षा है।

जैन-दर्शन में परम पुरुषार्थ—मोक्ष पाने के तीन साधन बतलाये गये हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा गया है, तो ऐसे स्थलों पर समझना चाहिए कि दर्शन को ज्ञानस्वरूप समझकर उससे भिन्न नहीं गिना है।

उक्त सन्दर्भ में यह प्रश्न होता है कि वैदिकदर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन माना है, फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग दोनों मार्गों का

समावेश हो जाता है; क्योंकि सम्यक्चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जाने वाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्विक कार्य कर्ममार्ग है और चित्तशुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन भक्तिमार्ग है; क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन में बताये गये मोक्ष के तीन साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र—अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुच्चय है।

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व-विषयक विवेचना का सारांश

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इन्हें क्रमशः बंध, सत्ता और उदय कहते हैं। अन्य दार्शनिकों ने भी इन तीन अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न नामों से कथन किया है। जैनशास्त्र में ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म का आठ तथा एकसौ अट्ठावन भेदों में वर्गीकरण किया है और इनके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया है, वैसा किसी अन्य दर्शन में नहीं किया गया है। पातंजलदर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बताये गये हैं, किन्तु जैनदर्शन में कर्म के सम्बन्ध में किये गये विचार के सामने यह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक-से-अधिक और कम-से-कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम अवश्यक हैं? एक कर्म अन्यकर्मरूप कब बन सकता है? उसकी बंधकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान कर्म क्यों न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? कभी-कभी आत्मा के शतशः

प्रयत्न करने पर भी कर्म का विपाक बिना भोगे क्यों नहीं छूटता ? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है ? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है ? संक्लेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं ? आत्मा वीर्य शक्ति के आविर्भाव द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस प्रकार उठाकर फेंक देती है ? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन सी दीखती है ? बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस प्रकार नहीं होती है ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देती है ? वह अपने वर्तमान परमात्मभाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होती है, उस समय उसके और अंतरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कंटक करती है ? आत्ममन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध परिणाम तरंग-माला के वैद्युतिक यंत्र से कर्म के पहाड़ों को किस प्रकार चूर-चूर कर डालती है ? कभी-कभी गुलांट खाकर कर्म, जो कुछ देर के लिए दबे होते हैं, प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बंध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? आत्मसंबद्ध अतीन्द्रिय कर्म किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करता है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक विस्तृत वर्णन जैन-कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता है ? यही कर्मतत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है ।

भारतीय दर्शन-साहित्य में कर्मवाद का स्थान

श्रमण भगवान महावीर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन में स्याद्वाद,

अहिंसावाद आदि जैसे इसके महत्त्वपूर्ण अंगरूप हैं, वैसे ही और उतने ही प्रमाण में कर्मवाद भी उसका प्रधान अंग है। स्याद्वाद और अहिंसावाद की व्याख्या और वर्णन में जैसे जैनदर्शन ने विश्व-साहित्य में एक दृष्टिकोण अंकित किया है, उसी प्रकार कर्मवाद के व्याख्यान में भी उसने उतना ही कौशल और गौरव प्रदर्शित किया है। यही कारण है कि जैनदर्शन द्वारा की गई कर्मवाद की शोध और उसकी व्याख्या— इन दोनों को भारतीय दर्शन-साहित्य में उसके अनेकान्तवाद, अहिंसावाद आदि वादों के समान विशेषरूपेण महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जैनदर्शन में कर्मवाद का स्थान

सामान्यतया ऐसी मान्यता है कि जैनदर्शन कर्मवादी है। यद्यपि यह मान्यता असत्य तो नहीं है, तथापि इस मान्यता की ओट में एक ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है। इस सम्बन्ध में कहना चाहिए कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है, ऐसा नहीं है, परन्तु वह आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के इस कथन के अनुसार—

कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिसकारणे गता।
मिच्छत्तं ते चेवा समासओ होई सम्मत्तं॥

कालवाद, स्वभाववाद आदि पाँच कारणवाद को मानने वाला दर्शन है। कर्मवाद उक्त पाँच कारणवादों में से एक वाद है। फिर भी उक्त भ्रान्त मान्यता उत्पन्न होने का मुख्य कारण यही है कि जैनदर्शन के द्वारा मान्य किये गये उक्त पाँच वादों में से कर्मवाद ने साहित्य-क्षेत्र में इतना स्थान रोक रखा है कि उसका शतांश जितना स्थान दूसरे किसी वाद ने नहीं रोका है।

मौलिक जैन-कर्मसाहित्य

जैन-आगमों में से ऐसा कोई आगम नहीं है, जो केवल कर्मवाद विषय-स्पर्शी हो तथा जैन-कर्मवाद का स्वरूप और उसकी व्याख्या वर्तमान में विद्यमान जैनागमों में पृथक्-पृथक् रूप से अमुक प्रमाण में संकेतरूप होने से वह जैन कर्मवाद की महत्ता के प्रकाशन में अंगरूप नहीं बन सकती है। अतः इस स्थिति में यह जिज्ञासा सहज ही होती है और होनी भी चाहिए कि

जैनदर्शन के अंगभूत कर्मवाद के व्याख्यान का मूलस्थान कौन-सा है ? इस विषय में जैन-कर्मवाद-विषयक साहित्य के व्याख्याता और प्रणेताओं का यह उत्तर है कि जैन-कर्मवाद-विषयक पदार्थों का मूलभूत विस्तृत और सम्पूर्ण व्याख्यान कर्मप्रवादपूर्व नामक महाशास्त्र में किया गया है। इस महाशास्त्र के आधार पर हमारा यह कर्मवाद का व्याख्यान, ग्रन्थ-रचना आदि है। यद्यपि यह मूल महाशास्त्र तो काल के प्रभाव से विस्मृति और विलुप्ति के गर्भ में चला गया है लेकिन आज हमारे समक्ष विद्यमान कर्मवाद-विषयक साहित्य पूर्वोक्त महाशास्त्र के आशय के आधार पर निर्माण किया गया अंशरूप साहित्य है। उक्त महाशास्त्र की विस्मृति और अभाव में कर्म-साहित्य के निर्माताओं को कर्मवाद-विषयक कितनी ही वस्तुओं के व्याख्यान प्रसंग-प्रसंग पर छोड़ देने पड़े और कितनी ही वस्तुओं के विसंवादी प्रतीत होने वाले वर्णन श्रुतधरों पर छोड़ दिये गये हैं।

जैन-कर्मसाहित्य के प्रणेता

जैन-कर्मसिद्धान्त-विषयक साहित्य के पुरस्कर्ता आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो परम्पराओं में विभाजित हो गये हैं, फिर भी कर्मवाद का व्याख्यान और वर्णन एक ही रूप में रहा। यही कारण है कि प्रत्येक तात्त्विक विषय में दोनों ही परम्पराएँ समान तंत्रीय मानी जाती हैं। इस साहित्य की विशेषता के विषय में भी दोनों परम्पराएँ समान स्तर पर हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकर्ताओं के क्षयोपशमानुसार ग्रन्थ-रचना और वस्तुवर्णन में सुगमता-दुर्गमता न्यूनाधिकता, विशदता-अविशदता है और हो सकती है। लेकिन यथार्थ दृष्टि से देखने पर दोनों में से किसी के भी कर्मवाद-विषयक साहित्य का गौरव कम नहीं माना जा सकता है। अवसरानुसार जैसा प्रत्येक विषय में होता है वैसा ही कर्मवाद-विषयक साहित्य में भी दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे की वस्तु ली है, वर्णन की है और तुलना भी की है। ऐसा करना यही सिद्ध करता है कि कर्मवाद-विषयक साहित्य में दोनों में से एक का गौरव कम नहीं है। दोनों सम्प्रदायों में कर्मवाद-विषयक निष्णात अनेक आचार्य हुए हैं, जिनके वक्तव्य में कहीं भी स्खलना नहीं आती है। कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह जैसे समर्थ ग्रन्थ,

उनके वर्ण्य विषय और नामकरण आदि में भी दोनों सम्प्रदाय समान स्तर पर हैं।

श्वेताम्बर संप्रदाय में आचार्य शिवशर्मसूरि, चूर्णिकार आचार्य श्री चन्द्रर्षि महत्तर, श्री गर्गर्षि, नवांगीवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि, श्री मुनि चन्द्रसूरि मलधारी श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री चक्रेश्वरसूरि, श्री धनेश्वराचार्य, खरतर, गच्छीय आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि, आचार्य मलयगिरि, श्री यशोदेवसूरि, श्री परमानन्द सूरि, बृहद्गच्छीय श्री हरिभद्रसूरि, श्री रामदेव, तपागच्छीय आचार्य श्री देवेन्द्र सूरि, श्री उदयप्रभ, श्री गुणरत्न सूरि, श्री मुनिशेखर, आगमिक श्री जयतिलक सूरि, न्यायविशारद न्यायाचार्य महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि अनेक मौलिक एवं व्याख्यात्मक कर्मवाद-विषयक साहित्य के प्रणेता और व्याख्याता निष्णात आचार्य व स्थविर हो गये हैं।

महान् आचार्य श्री सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंच कथा, मलधारी हेमचन्द्र सूरि की भवभावना, मन्त्री यशपाल का मोहराज-पराजय नाटक, महामहोपाध्याय यशोविजयजी की वैराग्य कल्पलता आदि जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त को अति सूक्ष्मता से प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भारतीय साहित्य में अद्वितीय स्थान शोभित कर रही हैं, जो जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त के लिए गौरवणीय है। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में भी श्री पुष्पदन्ताचार्य, श्री भूतबलि आचार्य, श्री गुणधराचार्य, श्री यतिवृषभाचार्य, श्री वीरसेनाचार्य, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि कर्मवाद-विषयक साहित्य के प्रमुख व्याख्याता पारंगत आचार्य और स्थविर हुए हैं।

दोनों सम्प्रदायों के विद्वान् ग्रन्थकारों ने कर्मवाद-विषयक साहित्य को प्राकृत, मागधी, संस्कृत एवं लोक भाषा में अंकित करने का एक जैसा प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर आचार्यों ने कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन-अर्वाचीन कर्मग्रन्थ और उनके ऊपर चूर्णि, भाष्य, टीका, अवचूर्णि, टिप्पण, टब्बा आदि रूप विशिष्ट कर्म साहित्य का सृजन किया है, जबकि दिगम्बर आचार्यों ने महाकर्म प्रकृति प्राभृत, कषाय प्राभृत, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, पंचसंग्रह आदि शास्त्र और उस पर मागधी, संस्कृत आदि भाषाओं में व्याख्यात्मक विशाल

कर्मसाहित्य की रचना की है। कर्मवाद-विषयक उपर्युक्त उभय परम्परा से सम्बन्धित साहित्य में अनेक प्रकार की विशेषताएँ होने पर भी एक-दूसरे सम्प्रदाय के साहित्य की तरफ दुर्लक्ष्य करना या उपेक्षा करना यह कर्म-विषयक अपूर्व ज्ञान से वंचित रहने जैसी ही बात है। अन्त में संक्षेप में इतना ही संकेत करते हैं कि जैनदर्शनसमान्य कर्मवाद को पुष्ट बनाने में दोनों सम्प्रदायों ने एक महत्त्वपूर्ण योग दिया है।[1]

कर्मशास्त्र का परिचय

वैदिक और बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता है। लेकिन जैनदर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत हैं। अतएव उन विचारों के प्रतिपादक शास्त्र ने जिसे कर्मशास्त्र या कर्मविषयक साहित्य कहते हैं, जैनसाहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रखा है। कर्मसाहित्य को जैन साहित्य का हृदय कहना चाहिए। यों तो अन्य विषयक जैन ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी-बहुत चर्चा पाई जाती है परन्तु उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया है और उसकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। लेकिन सम्प्रदाय-भेद, संकलना और भाषा की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

(१) **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्मशास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय-भेद की नींव इस सुदृढ़ता से पड़ी कि जिससे भगवान महावीर के उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में

१. श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मवाद विषयक साहित्य का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित और श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा संपादित 'सटीकश्चत्वार प्राचीन कर्म-ग्रन्थाः' की प्रस्तावना देखें।

कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों में, उनकी व्याख्याओं में और कहीं-कहीं तात्पर्य में थोड़ा-बहुत भेद हो गया जिसकी परम्परा आज भी पूर्ववत् चल रही है। भेदबिन्दुओं को यथास्थान आगे प्रस्तुत करेंगे।

(२) **संकलना**—भगवान महावीर के समय से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं—(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (ख) पूर्व से उद्धृत (आकर रूप कर्मशास्त्र), और (ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह भाग सबसे बड़ा और सबसे पहला है, क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्वविद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब नौ सौ या एक हजार वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप से पूर्वविद्या वर्तमान रही। चौदह में से आठवाँ पूर्व जिसका नाम कर्मप्रवाद है, मुख्यतया कर्मविषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे पूर्व 'अग्रायणीय' में भी कर्मतत्त्व के विचार का एक कर्म-प्राभृत नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश वर्तमान नहीं है।

(ख) पूर्व से उद्धृत (आकर रूप) कर्मशास्त्र—यह विभाग पहले विभाग से बहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियों के लिए इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर—दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्र का अंश दोनों सम्प्रदायों में अभी वर्तमान है। उद्धार के समय सम्प्रदाय-भेद रूढ़ हो जाने से उद्धृत अंश दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—(१) कर्मप्रकृति, (२) शतक, (३) पंचसंग्रह और (४) सप्ततिका—ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर सम्प्रदाय में—(१) महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत तथा (२) कषाय प्राभृत—ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

(ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग तीसरी संकलना का फल है। इसमें कर्मविषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इन्हीं प्रकरण

ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरण-ग्रन्थों को पढ़ने के बाद मेधावी अभ्यासी आकर-ग्रन्थों को पढ़ते हैं। आकर-ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक विभाग का अध्ययन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है।

भाषा—भाषा की दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(क) प्राकृत भाषा, (ख) संस्कृत भाषा और (ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषा।

(क) प्राकृत भाषा—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र प्राकृत भाषा में बने हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा में ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषा में हैं।

(ख) संस्कृत भाषा पुराने समय में जो कर्मशास्त्र बना है, वह सब प्राकृत भाषा में ही है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्मशास्त्र की रचना होने लगी। अधिकतर संस्कृत भाषा में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखी गई हैं। परन्तु कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदायों में ऐसे भी हैं, जो संस्कृत भाषा में रचे गये हैं।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषा—प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं में मुख्य-तया—कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी—इन तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। इन भाषाओं का उपयोग मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने में ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका, टिप्पण, अनुवाद आदि हैं जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र विभाग पर लिखे गये हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्य ने लिया और गुजराती व राजस्थानी भाषा श्वेताम्बर साहित्य में प्रयुक्त हुई।

कर्मविपाक ग्रन्थ का परिचय

विश्व में प्रतिष्ठित धर्मों का साहित्य दो भागों में विभाजित है—(१) तत्त्वज्ञान, (२) आचार व क्रिया। ये दोनों विभाग एक दूसरे से बिलकुल अलग नहीं हैं। इनका सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा शरीर में नेत्र और हाथ-पैर आदि अन्य अवयवों का है। जैन-साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार इन दोनों विभागों में बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ कर्मविपाक पहले विभाग से सम्बन्ध रखता है। यों तो जैनदर्शन में अनेक तत्त्वों पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है; परन्तु इस ग्रन्थ में उन सबका वर्णन नहीं है। प्रधानतया कर्म-तत्त्व का वर्णन है।

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णन क्रम, रचना का मूलाधार, परिभाषा और कर्ता आदि बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ'—इन दो नामों में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि में 'कम्मविवागं समासओ वुच्छं' तथा अन्त में 'इअ कम्मविवागोऽयं' इस कथन से स्पष्ट कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। दूसरा नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों में यह पहला है, इसके पढ़े बिना कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणों में प्रवेश नहीं हो सकता है। यह नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः इसी नाम का व्यवहार करते हैं। पहला कर्मग्रन्थ इस प्रचलित नाम से मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत-से लोग कहने वाले का आशय ही नहीं समझते हैं। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि आगे के प्रकरणों के बारे में चरितार्थ होती है, अर्थात् कर्मस्तव, कर्मस्वामित्व, षडशीतिका, शतक और सप्ततिका कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे, परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सब लोग कहने वाले का भाव समझ लेंगे।

विषय- इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय कर्मतत्त्व है, परन्तु इसमें कर्म से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति अंश पर ही विचार किया गया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों के विपाक का ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी कर्मविपाक रखा गया है।

वर्णनक्रम- इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया गया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण बताने के लिए उसे चार अंशों में विभाजित किया गया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके बाद आठ मूल प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर-भेदों की संख्या बतलाई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखलाने के लिए प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेप में परन्तु तत्त्वरूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का सदृष्टान्त स्पष्टीकरण किया है। अनंतर दर्शनावरणकर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। बाद में उसके भेदों को दिखाते हुए दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है। दर्शनावरणीयकर्म के भेदों में पाँच प्रकार की निद्राओं का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप संक्षेप में बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुःख-जनक वेदनीय कर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीयकर्म, अक्षय जीवन के विरोधी आयुकर्म, गति, आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नामकर्म, उच्च-नीच गोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदि में रुकावट डालने वाले अन्तरायकर्म तथा उनके प्रत्येक कर्म के भेदों का थोड़े में किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है तथा प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है, उस सबको संक्षेप में पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रत्येक कर्म प्रकृति आदि चार अंशों का कथन, (२) कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियां, (३) पाँच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, (४) सब प्रकृतियों का दृष्टान्तपूर्वक कार्यकथन और (५) सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार— वास्तव में इस ग्रन्थ का आधार [illegible], भगवती, नन्दी, अनुयोगद्वार आदि आगम हैं। आगमगत कर्मसिद्धान्त को ही आचार्य ने अपनी कुशल प्रतिपादन शैली द्वारा पल्लवित किया है। आगमों के बाद इसका साक्षात् आधार गर्ग ऋषि का बनाया हुआ प्राचीन कर्मविपाक है और कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६८ गाथा प्रमाण होने से पहले-पहल कर्मशास्त्र में प्रवेश करने वालों के लिए बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिए इसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की कोई भी मुख्य और तात्त्विक बात नहीं छूटी है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रखा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नहीं, इस ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिया है ; उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद तथा आठ कर्म प्रकृतियों के बंध हेतु प्राचीन कर्म-विपाक में नहीं हैं, किन्तु उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस ओर भी ध्यान रखा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सकें, वहाँ उसी बात को बतलाना, अन्य को नहीं। इस अभिप्राय से प्राचीन कर्मविपाक में जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया है, वैसे इस ग्रन्थ में नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गयी है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण में हो गया है। इसके पढ़ने वाले प्राचीन कर्मविपाक को बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेप रूप होने से सबको मुखपाठ करने व याद करने में बड़ी आसानी होती है।

भाषा—इस कर्मग्रन्थ और इससे आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थों की मूल भाषा प्राकृत है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भाषा में रची गई हैं कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो, और उन्हें प्राकृत के कुछ नियम समझा दिये जाएँ तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। इनकी टीका संस्कृत में है और बड़ी विशदता से लिखी गयी है, जिससे पढ़ने वालों को बड़ी सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का अन्त और चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भ काल है। उनका स्वर्गवास विक्रम संवत् १३२७ में हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली (श्लोक १७४) में स्पष्ट है, परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, तथापि यह ज्ञात पड़ता है कि १२८५ में श्री जगच्चन्द्रसूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे; गच्छ स्थापना के बाद श्री जगच्चन्द्र-सूरि के द्वारा ही श्री देवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली के श्लोक १०७ में है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयम से स्थविर होंगे; अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खासकर नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते थे। उनका सूरिपद विक्रम संवत् १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद के समय का अनुमान विक्रम संवत् १३०० मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नवदीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र पचास या बावन वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि विक्रम सम्वत् १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। विक्रम सम्वत् १३०२ में उन्होंने उज्जयिनी में श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुए। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र पच्चीस-सत्ताईस वर्ष की मान ली जाए, तब भी उक्त अनुमान--१२७५ वि० सं० के लगभग जन्म होने की पुष्टि होती है। जन्म, दीक्षा तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात में सन्देह नहीं कि वे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढ़ा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि—श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश, किस जाति और किस परिवार में हुआ, इसका प्रमाण नहीं मिला। गुर्वावली में उनका जीवन वृत्तान्त है, परन्तु वह बहुत संक्षिप्त है। उसमें सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है, अन्य बातों का नहीं। इसलिए उसके आधार पर

उनके जीवन के सम्बन्ध में जहाँ-कहीं उल्लेख हुआ है, वह अधूरा ही है, तथापि गुजरात और मालवा में उनका विहार इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में जन्मे होंगे। उनकी जाति व माता-पिता के सम्बन्ध में साधन के अभाव में किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश नहीं है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री देवेन्द्रसूरि जैनशास्त्र के गम्भीर विद्वान थे। इसकी साक्षी उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान थे और इसी से मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य-विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। विद्वत्ता और ग्रन्थ-लेखन—ये दो अलग अलग कार्य हैं और यह आवश्यक नहीं कि विद्वान को ग्रन्थ लिखना ही चाहिए। परन्तु देवेन्द्रसूरि का जैनागम-विषयक ज्ञान तल-स्पर्शी था, यह बात असंदिग्ध है। उन्होंने कर्मग्रन्थ, जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं, सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाएँ देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में रचे हुए उनके अनेक ग्रन्थ इस बात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि विद्वान होने के साथ-साथ चारित्रधर्म में बड़े दृढ़ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्री जगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निस्सीम त्याग से जो क्रियो-द्धार किया था, उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने किया।

गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु श्री जगच्चन्द्रसूरि थे, जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया था। इस कार्य में उन्होंने अपनी असाधारण त्याग-वृत्ति दिखाकर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था।

परिवार—श्री देवेन्द्रसूरि के शिष्य परिवार के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। परन्तु इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि उनके आश्रित थे। गुर्वावली में उनके दो शिष्य श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति का उल्लेख मिलता है। ये दोनों भाई थे। विद्यानन्द नाम सूरिपद के पीछे का है,

उन्होंने विद्यानन्द नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय ने भी जो सूरिपद लेने के बाद धर्मघोष नाम से प्रसिद्ध हुए, कुछ ग्रन्थ रचे हैं। ये दोनों शिष्य जैनशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के भी अच्छे विद्वान थे। इसका प्रमाण उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अंतिम पद्य से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि मेरी बनाई हुई इस टीका का श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति—दोनों विद्वानों ने शोधन किया है। श्री देवेन्द्र सूरि के कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१) श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, (२) सटीक पाँच नवीन कर्मग्रन्थ, (३) सिद्ध पंचाशिका सूत्रवृत्ति, (४) धर्मरत्न वृत्ति, (५) सुदर्शन चरित्र, (६) चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय, (७) वंदारुवृत्ति, (८) सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, (९) सिद्धदण्डिका और (१०) सारवृत्तिदशा।

इनमें से प्रायः बहुत से ग्रन्थ जैनधर्म-प्रसारक सभा भावनगर, आत्मानन्द सभा भावनगर और देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

—श्रीचन्द सुराना
—देवकुमार जैन

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१–६	कर्मग्रन्थ [भाग १ से ६ तक सम्पूर्ण सैट]	७५)
७	प्रवचन प्रभा	५)
८	जीवन ज्योति	५)
९	धवल-ज्ञान-धारा	५)
१०	प्रवचन-सुधा	५)
११	साधना के पथ पर	५)
१२	मिश्री की डलियाँ [भाग १]	१२)
१३	जैन रामयशोरसायन [जैन रामायण]	१६)
१४	पांडव यशोरसायन [जैन महाभारत]	२५)
१५	दशवैकालिक सूत्र [पद्यमय अनुवाद व हिन्दी भावानुवाद]	१५)
१६	उत्तराध्ययन सूत्र [पद्यानुवाद]	१५)
१७	जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण	१०)
१८	तीर्थंकर महावीर	१०)
१९	संकल्प और साधना के धनी— मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज	२५)
२०–२९	सुधर्म प्रवचन माला [भाग १ से १०]	६)
३०	किस्मत का खिलाड़ी	४)
३१	बीज और वृक्ष	४)
३२	भाग्य-क्रीड़ा	४)
३३	सांझ-सबेरा	४)
३४	विश्वबन्धु महावीर	२)
३५	हृदय परिवर्तन [नाटक]	२)

३६	सात्त्विक और व्यसनमुक्त जीवन	१)
३७	विपत्तियों की जड़—जूआ	१)
३८	मांसाहार : अनेक अनर्थों का कारण	१)
३९	मानव का शत्रु : मद्यपान	१)
४०	वेश्यागमन : मानव-जीवन का कोढ़	१)
४१	शिकार : पापों का स्रोत	१)
४२	चोरी : अनैतिकता की जननी	१)
४३	परस्त्री-सेवन : सर्वनाश का मार्ग	१)
४४	जीवन-सुधार [उक्त आठों पुस्तकों का सैट]	८)

प्राप्ति स्थान

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

पिन ३०५९०१

प्रथम भाग

कर्मग्रन्थ

[कर्म-विपाक]

वन्दे वीरम्

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मविपाक

[प्रथम कर्मग्रन्थ]

मंगलाचरण एवं अभिधेय :

> **सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।**
> **कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥१॥**

गाथार्थ—श्री वीर जिनेन्द्र की वन्दना—नमस्कार करके संक्षेप में 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ को कहूँगा। मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे तथा उनके निमित्त से जो कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्य अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है, उस आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्य को कर्म कहते हैं।

विशेषार्थ—शिष्टजनोचित प्रवृत्ति का प्रदर्शन करने और कार्य के निर्विघ्न पूर्ण होने के लिए कार्य के प्रारम्भ में मंगलकारी महापुरुषों का स्मरण किया जाता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने ग्रन्थ प्रारम्भ करने से पूर्व '**सिरि वीर जिणं**' पद द्वारा श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है। श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करने का कारण यह है कि उन्होंने ग्रन्थ में वर्णित कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध, बुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है।

'**सिरि वीर जिणं**'—यह पद श्री वीर जिनेन्द्रदेव के नाम एवं साथ-साथ उनकी विशेषताओं का भी बोध कराने वाला है; जैसे कि—

श्री शब्द का अर्थ है, लक्ष्मी। उसके दो भेद हैं—आन्तर् और बाह्य। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अन्तरंग लक्ष्मी कहते हैं और (१) अशोकवृक्ष, (२) सुरपुष्पवृष्टि, (३) दिव्यध्वनि, (४) चामर, (५) आसन, (६) भामंडल, (७) दुन्दुभि, (८) आतपत्र[1] इन आठ महाप्रातिहार्यों को बाह्य लक्ष्मी कहते हैं।

जब तीर्थङ्कर भगवान केवलज्ञान प्राप्त कर भव्य मुमुक्षु जीवों के प्रतिबोधनार्थ धर्मदेशना देते हैं तब देव, देवेन्द्र अपना भक्ति-प्रमोद प्रकट करने के लिए उक्त अष्ट प्रातिहार्योंरूप बाह्य लक्ष्मी से युक्त समवसरण की रचना करते हैं।

वीर—"**वी—विशिष्टां, ई—लक्ष्मीं, र—राति-ददाति; आत्मीयत्वेन गृह्णातीति वा वीरः।**" अथवा "**वी—विशेषे अनन्तज्ञानादि आत्मगुणान्, ईर—ईरयति प्रापयति वा वीरः।**" यह वीर शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या है। जिसका अर्थ है कि अनन्तज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के असाधारण—विशेष गुणों को जो प्राप्त करने वाले हैं और दूसरों को भी इन आत्मिक गुणों को प्राप्त कराने में समर्थ सहयोगी बन सकते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

अथवा—**विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते।**
तपो वीर्येणयुक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

अर्थात्—जिन्होंने कर्मों का विदारण—नाश किया है तथा तप से शोभायमान हैं तथा तपोवीर्य से संपन्न हैं उन्हें वीर कहते हैं।

जिन—**जयतीति जिनः।** जिन्होंने स्वरूपोपलब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भावकर्मों को एवं ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों को जीत लिया है, उन्हें जिन कहते हैं।

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

भगवान श्री वीर जिनेन्द्रदेव उक्त सभी गुणों और विशेषणों से युक्त हैं। इसीलिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार मंगलाचरणात्मक पद के शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य प्रदर्शित करके अब ग्रन्थ के अभिधेय का संकेत करते हैं।

कर्म की परिभाषा

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश-प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों में संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[1]

कर्म पौद्गलिक हैं। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण हों, उसे पुद्गल कहते हैं।[2] पृथ्वी, पानी, हवा, आदि पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, अर्थात् कर्म-रूप में परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज, अर्थात् धूलि है, जिसको इन्द्रियाँ (यंत्र आदि की मदद से भी) नहीं जान सकती हैं, किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परमअवधिज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जानते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल जब जीव द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं, तब उन्हें कर्म कहते हैं।

---

१. विसय कसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति ॥

—परमात्मप्रकाश १।६२

२. (क) स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र २३

(ख) पोग्गले पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे पण्णत्ते।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १२, उ० ५, सू० ४५०

जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूलि में लोटे तो वह धूलि उसके सर्वांग शरीर में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जब संसारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—हलन-चलन होता है, उस समय अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होने लगता है[1] और जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोह का गोला प्रतिसमय अपने सर्वांग से जल को खींचता है, उसी प्रकार संसारी—छद्मस्थ-जीव अपने मन, वचन, काया की चंचलता से मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों द्वारा प्रतिक्षण कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता रहता है और दूध-पानी व अग्नि तथा लोहे के गोले का जैसा सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का जीव और उन कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध हो जाता है।

जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। कर्म जीव के इन अनन्त गुणों को आवृत करने के साथ-साथ जन्म-मरण कराने तथा उच्च-नीच आदि कहलाने में कारण बनते हैं और उन-उन अवस्थाओं में जीव का अस्तित्व टिकाये रखते हैं।

जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाण-रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिक है। संसारी जीव का वैभाविक स्वभाव रागादिरूप से परिणत होने का है और बद्धकर्म का स्वभाव जीव को रागादिरूप से परिणमाने का है। इस

१. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबंधो भवत्येवम्॥
—आवश्यक टीका

प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन समझना चाहिए।[1] यदि कर्म और जीव का सादि-सम्बन्ध माना जाए तो ऐसा मानने पर यह दोष आता है कि 'मुक्त जीवों को भी कर्मबन्ध होना चाहिए।'

कर्म-संतति (प्रवाह) की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। किन्तु अनादिकालीन होने पर सान्त (अन्तसहित) भी है और अनन्त (अन्तरहित) भी है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेंगे, उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा, उनका कर्म के साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध है।

कर्मसम्बद्ध जीवों में से जिन जीवों में मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता है, उन्हें भव्य और जिनमें यह योग्यता नहीं है, उन्हें अभव्य कहते हैं।

यद्यपि सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें से ज्ञानावरण आदि रूप पौद्‌गलिक परमाणुओं के पिंड को **द्रव्यकर्म** और उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को **भावकर्म** कहते हैं।[2]

कषाय के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, किन्तु इसको विशेष रूप से समझाने के लिए—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग, ये पाँचों

---

१. (क) द्वयोरप्यनादिसम्बन्धः कनकोपल-सन्निभः।

(ख) अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।

—लोकप्रकाश, ४२४

२. पोग्गल-पिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड

बन्धहेतुओं के रूप में प्रसिद्ध हैं।[1] उनकी संक्षिप्त व्याख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी चाहिए।

मिथ्यात्व—इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के उल्टे अर्थवाला होता है, अर्थात् यथार्थरूप से पदार्थों के श्रद्धान, निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है[2] एवं पदार्थों के अ-यथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

यह अ-यथार्थ श्रद्धान दो प्रकार से होता है—(१) वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और (२) वस्तु का अ-यथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे प्रकार में फर्क इतना है कि पहला बिलकुल मूढ़दशा में भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा में ही होता है। विचार-शक्ति का विकास होने पर भी जब दुराग्रह के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर अ-तत्त्व में पक्ष-पात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है। लेकिन जब विचार-दशा जाग्रत नहीं हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण से सिर्फ मूढ़ता होती है। उस समय तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता और वैसे ही अतत्त्व

---

१. (क) पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं अविरई पमाए कसाया जोगा।

—स्थानांग ५।२।४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १

२. (क) तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥

—उत्तरा०, अ० २८, गा० १५

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २

का भी श्रद्धान नहीं होता है। उस दशा में सिर्फ मूढ़ता होने से तत्त्व का अश्रद्धान होना कहते हैं। यह नैसर्गिक—परोपदेशनिरपेक्ष—स्वभाव से होने के कारण अनभिगृहीत कहलाता है और जो किसी कारण के वश होकर एकान्तिक कदाग्रह होता है, उसे अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अभिगृहीत मिथ्यादर्शन मनुष्य जैसे विकसित प्राणी में होना संभव है और दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन तो कीट-पतंग आदि जैसे अविकसित चेतना वाले प्राणियों में ही संभव है।

अविरति—दोषों—पापों से विरत न होना।

प्रमाद—आत्मविस्मरण होना, अर्थात् कुशल कार्यों में आदरभाव न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

कषाय—जो आत्मगुणों को कषे—नष्ट करे अथवा जो जन्म-मरण-रूपी संसार को बढ़ावे।

योग—मन-वचन-काया के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् चलन-हलन को योग कहते हैं।[1]

यद्यपि ज्ञानावरणादिक कर्मों के विशेष बन्धहेतु भी बतलाये गये हैं, जिनका इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उल्लेख भी किया गया है लेकिन मिथ्यात्वादि योगपर्यन्त ये पाँचों समस्त कर्मों के सामान्य कारण कहलाते हैं। मिथ्यात्व से लेकर योग तक के इन पाँचों बन्धहेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होंगे, वहाँ उसके बाद के सभी हेतु होंगे, ऐसा नियम है। जैसे मिथ्यात्व के होने पर अविरति से लेकर योग-

---

१. कायवाङ्मनःकर्म योगः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सूत्र १

पर्यन्त चारों हेतु होंगे ही और अविरति के होने पर प्रमाद आदि तीनों होंगे। इसी प्रकार क्रमशः प्रमाद, कषाय, योग के बारे में भी समझ लेना चाहिए। परन्तु जब आगे का बन्धहेतु होगा, तब पूर्व का बन्धहेतु हो भी और न भी हो, क्योंकि पहले गुणस्थान में अविरति के साथ मिथ्यात्व होता है, किन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता है। इसी प्रकार अन्य बन्धहेतुओं के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कर्मबन्ध के उक्त हेतुओं की संख्या के बारे में तीन परम्पराएँ देखने को मिलती हैं—(१) कषाय और योग, (२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, (३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। किन्तु इस प्रकार से संख्या और उसके नामों में भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में कोई भेद नहीं है। प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है। अतः उसका समावेश अविरति या कषाय में हो जाता है। इस दृष्टि से कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों में सिर्फ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बन्धहेतु कहे गये हैं। यदि इनके बारे में और भी सूक्ष्मता से विचार करें तो मिथ्यात्व और अविरति—ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते हैं, अतः कषाय और योग इन दोनों को मुख्य रूप से बन्ध का कारण माना जाता है। फिर भी जिज्ञासु जनों को विस्तार से समझाने के लिए मिथ्यात्वादि पांचों को बन्ध का कारण कहा है। जो साधारण विवेकवान हैं, वे चार कारणों अथवा पाँच कारणों द्वारा और जो विशेष मर्मज्ञ हैं, वे दो कारणों की परम्परा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार कर्म और कर्मबन्ध के हेतुओं का कथन करके आगे की गाथा में कर्मबन्ध के प्रकार और कर्म के मूल एवं उत्तर भेदों की संख्या बतलाते हैं।

पगइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसय भेयं ॥२॥

गाथार्थ—लड्डू के दृष्टान्त से वह कर्मबन्ध प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशों की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मूलप्रकृतियाँ आठ और उत्तर-प्रकृतियाँ एकसौ अट्ठावन हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में कर्म का लक्षण और कर्मबन्ध के कारणों का कथन करने के अनन्तर इस गाथा में कर्मबन्ध के भेद और कर्म की मूल-प्रकृतियों तथा उनकी उत्तर-प्रकृतियों की संख्या गिनाते हैं।

जीव द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण किये जाने पर वे कर्मरूप को प्राप्त होते हैं, उस समय उनमें चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश बन्ध के प्रकार कहलाते हैं; उदाहरणार्थ—जैसे गाय-भैंस आदि द्वारा खाई हुई घास आदि दूध-रूप में परिणत होती है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है। वह स्वभाव अमुक समय तक इसी रूप में बना रहे, ऐसी कालमर्यादा भी उसमें आती है। इस मधुरता में तीव्रता-मंदता आदि विशेषताएँ भी होती हैं तथा उस दूध का कुछ परिमाण भी होता है। इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है, जिनको क्रमशः प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध कहते हैं।[1] उनके लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

---

१. (क) चउव्विहे बन्धे पण्णत्ते, तं जहा—
पगइबन्धे, ठिइबन्धे, अणुभावबन्धे, पएसबन्धे।
—समवायांग, समवाय ४

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र ४

(१) **प्रकृति-बन्ध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों स्वभावों का पैदा होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है।

(२) **स्थिति-बन्ध**- जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में अमुक समय तक अपने-अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की कालमर्यादा का होना स्थिति-बन्ध है।

(३) **रस-बन्ध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में फल देने के तरतमभाव का होना रस-बन्ध कहलाता है।

रस-बन्ध को अनुभागबन्ध अथवा अनुभावबन्ध भी कहते हैं।

(४) **प्रदेश-बन्ध**—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश-बन्ध कहलाता है।[1]

अब प्रकृतिबन्ध आदि के स्वरूप को गाथा में दिये हुए लड्डुओं के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

जैसे वातनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव वायु को नाश करने का, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव पित्त को शांत करने का और कफनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव कफ नष्ट करने का होता है, वैसे ही आत्मा के द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञानगुण को घात करने की, कुछ में आत्मा के दर्शनगुण को ढाँकने की, कुछ में आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दबा देने आदि की शक्तियाँ पैदा होती हैं। इस प्रकार

---

१. स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः॥
—अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलों की संख्या को प्रदेश कहते हैं।

भिन्न-भिन्न कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के अर्थात् शक्तियों के बन्ध को, स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

उक्त लड्डुओं में से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन, कुछ की एक माह तक अपनी शक्ति, स्वभाव रूप में रहने की कालमर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं अर्थात् बिगड़ जाते हैं, विरस हो जाते हैं। इसी तरह कोई कर्मदल आत्मा के साथ सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक, कोई बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक, कोई अन्त-र्मुहूर्त तक रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मदलों में पृथक्-पृथक् स्थितियों का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल-मर्यादाओं का बन्ध होना स्थिति-बन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं, अर्थात् आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

जैसे कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक, कुछ में कम, कुछ में कटुक रस अधिक, कुछ में कम आदि, इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि रसों में न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्मदलों में शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ कर्मदलों में कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद, मंदतर, मंदतम शुभ-अशुभ रसों का कर्म-पुद्गलों में बंधना यानी उत्पन्न होना रसबन्ध है।

शुभ कर्मों का रस ईख आदि के रस के सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभव से जीव हर्षित होता है। अशुभ कर्मों का रस नीम आदि के रस के सदृश कड़ुवा होता है, जिसके अनुभव से जीव घबराता है, दुःखी होता है।

कुछ लड्डुओं का परिमाण दो तोला, कुछ का छटांक और कुछ का पाव आदि होता है। इसी प्रकार किन्हीं कर्मस्कन्धों में परमाणुओं

की संख्या अधिक और किन्हीं में कम होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न परमाणु संख्याओंयुक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

जीव संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं से बने कर्मस्कन्धों को ग्रहण नहीं करता, किन्तु अनन्तानन्त (अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं) से बने हुए कर्मस्कन्धों को ग्रहण करता है।

उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का बन्ध योग से एवं स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का बन्ध कषाय से होता है।[1]

कर्म के भेदों का कथन करने के अनन्तर कर्मों की मूल एवं उत्तर-प्रकृतियों की परिभाषा और संख्या बताते हैं।

मूलप्रकृति –कर्मों के मुख्य भेदों को मूलप्रकृति कहते हैं।

उत्तरप्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों के अवान्तर भेदों को उत्तरप्रकृति कहते हैं।

कर्म की मूलप्रकृतियों के आठ और उत्तरप्रकृतियों के एकसौ अट्ठावन भेद होते हैं। उनके नाम और संख्या आदि के निरूपण आगे की गाथा में किया जायगा।

मूलप्रकृतियों के नाम और उत्तरप्रकृतियों की संख्या :

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥

१. जोगा पयडिपएसं ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ।
—पंचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

गाथार्थ—कर्मशास्त्र में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म की मूलप्रकृतियों के आठ नाम हैं और इनके क्रमश: पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, एकसौ तीन, दो और पाँच भेद हैं।

विशेषार्थ—जीव द्वारा ग्रहण की गई कर्मपुद्गलराशि में अध्यवसायशक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावों का निर्माण होता है। यद्यपि ये स्वभाव अदृश्य हैं; फिर भी उनके परिणमन की अनुभूति एवं ज्ञान उनके कार्यों के प्रभाव को देखकर करते हैं। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं और इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी असंख्यात हैं। ऐसा होने पर भी संक्षेप में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागों में विभाजित कर दिया है, जिनके नाम क्रमश: नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1] इन नामों

---

१. (क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य॥
णामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं अट्ठेव उ समासओ॥

—उत्तराध्ययन ३३।२-३

(ख) अट्ठ कम्म पगडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं, अन्तराइयं।

—प्रज्ञापना, पद २१, उ० १, सू० २२८

(ग) आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० ५

के साथ प्रत्येक के अन्त में कर्म शब्द जोड़ देने से उस कर्म का पूरा नाम हो जाता है; जैसे— ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म इत्यादि।

असंख्य कर्मप्रभावों को उक्त आठ भागों में वर्गीकृत करने का कारण यह है कि जिससे जिज्ञासुजन सरलता से कर्मसिद्धान्त को समझ सकें। ज्ञानावरणकर्म आदि आठ कर्मों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे, उसे **ज्ञानावरणकर्म** कहते हैं।

(२) जो कर्म आत्मा के दर्शनगुण को आच्छादित करे, उसे **दर्शनावरणकर्म** कहते हैं।

(३) जिस कर्म के द्वारा जीव को सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव हो, वह **वेदनीयकर्म** कहलाता है।

(४) जो कर्म जीव को स्वपर-विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात करता है, उसे **मोहनीयकर्म** कहते हैं।

(५) जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे **आयुकर्म** कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि नाम से सम्बोधित हो, उसे **नामकर्म** कहते हैं।

(७) जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल में जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव में पूज्यता, अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च, नीच कहलाये[1] उसे **गोत्रकर्म** कहते हैं।

---

१ यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् गोत्रं। —प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका

(८) जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यरूप शक्तियों का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे **अन्तरायकर्म** कहते हैं।

इन आठों कर्मों के भी घाति और अघाति रूप में दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय—यह चार घातिकर्म हैं। 'घाति' यह सार्थक संज्ञा है। आत्मा के अनुजीवी गुणों का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने के कारण ही ये कर्म 'घाति' कहलाते हैं। शेष अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार कर्म 'अघाति' कहलाते हैं। यद्यपि इनमें आत्मा के अनुजीवी गुणों—वास्तविक आत्म-स्वरूप का घात करने की शक्ति नहीं है, तथापि इनमें ऐसी शक्ति पाई जाती है, जो आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करती है, जिससे आत्मा को शरीर की कैद में रहना पड़ता है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से क्रमशः ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के एकसौ तीन, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद होते हैं। ये अवान्तर भेद उन-उन कर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ कहलाते हैं। किन्हीं किन्हीं ग्रन्थों में उक्त कर्मों के कुल मिलाकर सत्तानवे या एकसौ अड़तालीस भेद भी बतलाये हैं। इस तरह की भिन्नता के कारणों को यथाप्रसंग बतलाया जाएगा। यहाँ तो जिज्ञासुजनों को सरलता से समझाने के लिए ही ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या एकसौ अट्ठावन बताई गई है।

अब आगे की गाथा में ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों के नाम बतलाने के लिए पहले ज्ञान के पाँच भेदों का वर्णन करते हैं।

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिंदिय चउक्का ॥४॥

गाथार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। उनमें से मतिज्ञान का अवान्तरभेद व्यंजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों से होने के कारण चार प्रकार का है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में पहला कर्म ज्ञानावरण है। उसकी उत्तर-प्रकृतियों के नाम समझाने के लिए पहले ज्ञान के भेद बतलाते हैं; क्योंकि ज्ञानों के नाम जान लेने से उनके आवरणों के नाम भी सरलता से समझ में आ जायेंगे। ज्ञान के मुख्य पाँच भेद हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान।[1]

मतिज्ञान—मन और इन्द्रियों की सहायता द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे, श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं; जैसे—घट शब्द को सुनने अथवा आँख से देखने पर उसके बनाने वाले,

---

१. (क) पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—अभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

—**स्थानांगसूत्र**, स्थान ५, उ० ३, सू० ४६३

(ख) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।

—**तत्त्वार्थसूत्र**, अ० १, सू० ९

रंग-रूप आदि तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है। शास्त्रों के पढ़ने तथा सुनने से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह भी श्रुतज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर

यद्यपि मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी मन और इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है, फिर भी इन दोनों में इतना अन्तर है कि मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, वर्तमान और भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है।

विषयकृत भेद के सिवाय दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्द-उल्लेख नहीं होता है और श्रुतज्ञान में होता है। इसका आशय यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख से रहित है, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, फिर भी श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता है। इन्द्रियाँ तो मात्र मूर्त को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनों को ग्रहण करता है। वास्तव में देखा जाय तो मनन-चिन्तन मन ही करता है; यथा—**मननान्मनः**। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए विषय का मनन भी मन ही करता है और कभी वह स्वतन्त्र रूप से भी मनन करता है। कहा भी है—**श्रुतमनिन्द्रियस्य** (तत्त्वार्थसूत्र अ० २, सू० २२), अर्थात् श्रुतज्ञान मुख्यतया मन का विषय है।

अवधिज्ञान—मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी, अर्थात् मूर्तद्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अथवा 'अव' शब्द अधः (नीचे) अर्थ का वाचक है। जो अधोऽधो

विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नहीं। यही उसकी मर्यादा है। अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं।[1]

मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रियों और मन की अपेक्षा न रखते हुए मर्यादा लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन में ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है; तब चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियाँ धारण करता है। वे ही आकृतियाँ मन की पर्यायें हैं। उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है।

मनःपर्ययज्ञानी किसी बाह्य वस्तु को, क्षेत्र को, काल को तथा द्रव्यगत पर्यायों को नहीं जानता, किन्तु जब वे किसी के चिन्तन में आ जाते हैं, तब मनोगत भावों को जानता है। जैसे बन्द कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति बाहर होने वाले विशेष समारोह तथा उसमें भाग लेने वाले मनुष्यों व वस्तुओं को टेलीविजन के द्वारा प्रत्यक्ष करता है, अन्यथा नहीं; वैसे ही मनःपर्ययज्ञानी चक्षु से परोक्ष जो भी जीव, अजीव हैं उनका

---

१. अव शब्दोऽधः शब्दार्थः अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधि, अथवा अवधि मर्यादा रूपीष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम्।

— नन्दीसूत्र टीका

प्रत्यक्ष तब कर सकते हैं, जबकि वे किसी संज्ञी के मन में झलक रहे हों, अन्यथा नहीं। सैकड़ों योजन दूर रहे किसी ग्राम, नगर आदि को मनःपर्यायज्ञानी नहीं देख सकते। लेकिन यदि वे ग्राम आदि किसी के मन में स्मृति के रूप में विद्यमान हैं, तब उनका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य उदाहरण समझने चाहिये।

मनःपर्यायज्ञान की विशेषता

अवधिज्ञान का विषय भी रूपी है, और मनःपर्यायज्ञान का विषय भी रूपी है; क्योंकि मन भी पौद्गलिक होने से रूपी है, फिर अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को क्यों नहीं जान सकता ? तो इसका समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को तथा उसकी पर्यायों को भी प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जैसे कि सैनिक दूर रहे अपने साथियों को दिन में झण्डियों की विशेष प्रक्रिया द्वारा और रात्रि में प्रकाश की प्रक्रिया द्वारा अपने भावों को समझाते हैं और उनके भाव समझते हैं। किन्तु अप्रशिक्षित व्यक्ति झण्डियाँ, प्रकाश आदि को देख सकता है और उनकी प्रक्रियाओं को भी देख सकता है किन्तु उनके द्वारा व्यक्त मनोभावों को नहीं समझ सकता है। इसी प्रकार अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष तो कर सकता है, किन्तु मनोगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञानी कर सकता है। यह उसका विशेष विषय है। यदि यह उसका विशेष विषय न होता तो मनःपर्यायज्ञान को अलग से मानना ही व्यर्थ है।

केवलज्ञान—विश्व में विद्यमान सम्पूर्ण द्रव्यों को, उनकी त्रिकाल-भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाली समस्त पर्यायों सहित युगपत् (एक साथ) जानना केवलज्ञान कहलाता है; अर्थात् जो ज्ञान किसी की

सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करता है, यानी इसके लिए मन और इन्द्रिय तथा देह एवं वैज्ञानिक यंत्रों की आवश्यकता नहीं रहती। वह बिना किसी की सहायता के रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेयों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है। अतः उसे केवलज्ञान कहते हैं।

ये मतिज्ञान आदि पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। इनमें से आदि के दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—परोक्षप्रमाण कहलाते हैं। क्योंकि इन दोनों ज्ञानों के होने में इन्द्रियों और मन के सहयोग की अपेक्षा होती है और अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान—ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं। ये तीनों ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं।[1]

यद्यपि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान आत्मा की शक्ति के द्वारा मूर्त पदार्थों का ज्ञान करते हैं, किन्तु ये चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण उनकी समग्र पर्यायों-भावों को जानने में असमर्थ हैं। इसलिए इन दोनों ज्ञानों को विकल-प्रत्यक्ष कहते हैं, जबकि केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जानता है। अतः केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहते हैं। केवलज्ञान में अपूर्णता-जन्य कोई भेद-प्रभेद नहीं होता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ और तज्जन्य पर्याय ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान के द्वारा न जानी जाय।

---

१. (क) दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।
पच्चक्खेनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलनाणे णोकेवलणाणे चेव।
णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव।
परोक्खेणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

—स्थानांगसूत्र, स्थान २, उ० १, सू० ७१

(ख) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० ११-१२

यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निश्चयनय की अपेक्षा परोक्ष हैं, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान भी कहे जाते हैं। इसलिए इन दोनों को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और शेष रहे अवधिज्ञान आदि तीन ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

मतिज्ञानादि पांच ज्ञानों में से आदि के चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान अपने आवरण कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर देने से क्षायिकज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के भेद

केवलज्ञान का अन्य कोई अवान्तर भेद नहीं होता है, किन्तु मतिज्ञानादि चारों ज्ञानों के क्षायोपशमिक होने से अवान्तर भेद होते हैं। उनमें से यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदों की संख्या और नामों को बतलाते हैं।

संक्षेप में मतिज्ञान के चार भेद हैं और क्रमशः अट्ठाईस, तीनसौ छत्तीस अथवा तीनसौ चालीस भेद भी होते हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।[1] इनमें से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद—और दूसरे भेद—नहीं होते हैं, किन्तु अवग्रह के निम्नलिखित दो भेद हैं—

1. (क) से किं तं सुअनिस्सिअं ? चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—उग्गह, ईहा, अवाओ, धारणा। —नन्दीसूत्र 26

(ख) अवग्रहेहावायधारणा। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० 1, सू० 15

(ग) चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा—उग्गहमई ईहामई अवायमई धारणामई। —स्थानांग 4।4।364

(१) व्यंजनावग्रह और (२) अर्थावग्रह ।[1]

व्यंजनावग्रह—नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है और विषय तथा इन्द्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है, वह अर्थावग्रह कहलाता है, किन्तु वह ज्ञान भी अव्यक्त रूप ही होता है और इस अव्यक्त ज्ञानरूप अर्थावग्रह से पहले होने वाले अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब 'यह कुछ है' ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं और उससे भी पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजनावग्रह पदार्थ की सत्ता को ग्रहण करने पर होता है, अर्थात् पहले सत्ता की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यंजनावग्रह होता है।

यह व्यंजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होता है।[2] क्योंकि व्यंजनावग्रह में इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध होना जरूरी है, लेकिन मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनों पदार्थों से अलग—दूर रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं। इसलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी कहलाते हैं।

---

१. (क) उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य।

—नन्दीसूत्र २७

(ख) सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव।

—स्थानांग, स्थान २, उ० १, सू० ७१

२. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० १९

जबकि स्पर्शनादि चार इन्द्रियाँ पदार्थ से सम्बन्ध करके ज्ञान कराने वाली होने से प्राप्यकारी कही जाती हैं।

अप्राप्यकारी का अर्थ है कि पदार्थों के साथ बिना संयोग किये ही पदार्थों का ज्ञान करना और प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थ के साथ सम्बन्ध, संयोग और स्पर्श होने पर ज्ञान होना। तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है और अप्राप्यकारी इन्द्रियों से नहीं होता है। जैसे आंख में डाला हुआ अंजन स्वयं आंख से नहीं दिखता और मन शरीर के अन्दर रहकर ही बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय—ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हैं।

इसी कारण व्यंजनावग्रह के (१) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह और (४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह—ये चार भेद होते हैं।[1]

स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, उसे स्पर्शनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र—इन इन्द्रियों से होने वाले व्यंजनावग्रहों को भी समझ लेना चाहिए।

व्यंजनावग्रह का जघन्य काल आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है और उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास-पृथक्त्व, अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नौ श्वासोच्छ्वास जितना है।[2]

---

१. वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सोइन्दियवंजणुग्गहे, घाणिंदियवंजणुग्गहे, जिब्भिंदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे से त्तं वंजणुग्गहे।
—नन्दीसूत्र २८

२. वंजणोवग्गह कालो आवलियाऽसंखभाग तुल्लो उ।
थोवा उक्कोसा पुण आणपाणू पुहुत्तंति॥ —नन्दीसूत्र टीका

मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेदों के नाम और उनके अट्ठाईस उत्तरभेदों में से व्यंजनावग्रह के चार भेद बतलाने के बाद अब शेष रहे चौबीस भेदों के नाम तथा श्रुतज्ञान के भेदों की संख्या बतलाते हैं—

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

गाथार्थ—अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये प्रत्येक करण अर्थात् पाँच इन्द्रियों और मन से होते हैं, इसलिए प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चौबीस भेद हो जाते हैं और पहले बताये गये व्यंजनावग्रह के चारों भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं । श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते हैं ।

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों में व्यंजनावग्रह के चार भेद पूर्व की गाथा में कहे गये हैं । बाकी रहे चौबीस भेदों को बतलाने से पहले गाथा में बताये गये अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के लक्षण कहते हैं ।

अर्थावग्रह—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं; जैसे—'यह कुछ है' । अर्थावग्रह में भी पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान नहीं होता है । किन्तु व्यंजनावग्रह की अपेक्षा अर्थावग्रहज्ञान में कुछ विशेषता होती है । अर्थावग्रह का काल एक समय प्रमाण है ।

ईहा—अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में धर्म-विषयक विचारणा को ईहा कहते हैं, अर्थात् अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहा जाता है । जैसे यह रस्सी का स्पर्श है या सर्प

का, इस प्रकार का संशय उत्पन्न होने पर दोनों के गुण-धर्मों के सम्बन्ध में विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिये। क्योंकि यदि यह सर्प होता तो आघात होने पर फुफकार किये बिना न रहता इत्यादि संभावना, विचारणा ईहा कहलाती है। ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के विषय में कुछ अधिक जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं, जैसे—पहले जो स्पर्श हुआ था, वह रस्सी का ही स्पर्श था, सर्प का नहीं। इस प्रकार जो निश्चय होता है, वह अवाय है। अवाय का समय अन्तर्मुहूर्त है।

धारणा—अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो, ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है, उसे धारणा कहते हैं, अर्थात् अवाय द्वारा जाने गये पदार्थ का कालान्तर में भी स्मरण हो, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहा जाता है।

अवायरूप निश्चय कुछ काल तक विद्यमान रहता है, फिर विषयान्तर में मन के चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है, किन्तु ऐसा संस्कार डाल जाता है कि आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो जाता है। यह निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण, यह सब मति-व्यापार धारणा है। धारणा का काल संख्यात तथा असंख्यात वर्षों का है।[1]

मतिज्ञान के रूप होने से अर्थावग्रह आदि चारों ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करते हैं। इसलिए उनका पाँच

---

१. उग्गहे इक्कसमइए, अन्तोमुहुत्तिया ईहा, अन्तोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। —नन्दीसूत्र ३४

इन्द्रियों और मन के साथ गुणा करने से छह-छह भेद हो जाते हैं, जैसे—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और मन का अर्थावग्रह के साथ संयोग करने से अर्थावग्रह के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं—

(१) स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, (४) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, (५) श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह और (६) मन-अर्थावग्रह। इसी प्रकार पाँच इन्द्रियों और मन के साथ क्रमशः ईहा, अवाय और धारणा को जोड़कर उन-उनके भी छह-छह भेद कर लेना चाहिए।

अर्थावग्रह से लेकर धारणा तक इन चारों के छह-छह भेदों को मिलाने से कुल चौबीस भेद होते हैं[1] तथा इन भेदों में व्यंजनावग्रह के चार भेदों को और मिलाने से मतिज्ञान के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। ये भेद पृष्ठ २७ पर दी गई तालिका से स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद बतलाने के अनन्तर अब ३३६ और ३४० भेदों को समझाते हैं—

ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान कभी एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान हो जाता है तो कभी विलम्ब से होता है, इत्यादि। अतः पाँच इन्द्रियों और मन—इन छह साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के रूप से जो कुल चौबीस भेद होते हैं वे क्षयोपशम और विषय

---

१. नन्दीसूत्र २९, ३१, ३२, ३३।

स्पर्शन इ०	रसन इ०	घ्राण इ०	श्रोत्र इ०	चक्षु इ०	मन	सर्वभेद २८
१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	×	×	४
२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	३ अवाय	३ अवाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

की विविधता से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। उन बारह प्रकारों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) बहु,	(२) अल्प,	(३) बहुविध,
(४) एकविध,	(५) क्षिप्र,	(६) अक्षिप्र,
(७) अनिश्रित,	(८) निश्रित,	(९) असंदिग्ध,
(१०) संदिग्ध,	(११) ध्रुव	(१२) अध्रुव[1]

बहु का आशय अनेक और अल्प का आशय एक है। जैसे दो या दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा, आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक पुस्तक को जानने वाले अल्पग्राही अवग्रह आदि धारणापर्यन्त समझ लेना चाहिए।

बहुविध का आशय अनेक प्रकार से और एकविध का अर्थ एक प्रकार से है। जैसे—आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि विविधता रखने

---

१. (क) छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमोगिण्हति बहुमोगिण्हति बहुविधमोगिण्हति धुवमोगिण्हति अणिस्सियमोगिण्हइ असंदिद्धमोगिण्हइ। छव्विहा ईहामती पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमीहति बहुमीहति जाव असंदिद्धमीहति। छव्विहा अवायमती पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमवेति जाव असंदिद्धमवेति। छव्विहा धारणा पण्णत्ता, तं जहा—बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुद्धरं धारेइ, अणिस्सियं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ। —स्थानांगसूत्र, स्थान ६, सू० ५१०

तथा—जं बहु बहुविह खिप्पा अणिस्सिय निच्छिय धुवेयरविभिन्ना
पुणरोग्गहादओ तो तं छत्तीसत्तिसय भेदं।
—इति भासयारेण (इति भाष्यकारेण)

(ख) बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १६

वाली पुस्तकों के जानने वाले अवग्रह आदि क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों के जानने वाले ये ज्ञान अल्पविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

बहु और अल्प का तात्पर्य वस्तु की संख्या (गिनती) से और बहुविध तथा एकविध का तात्पर्य प्रकार, किस्म या जाति से है। यही दोनों में अन्तर है।

क्षिप्र का अर्थ शीघ्र और अक्षिप्र का अर्थ विलम्ब—देरी है। शीघ्र जानने वाले अवग्रह आदि क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि तथा विलम्ब से जानने वाले अक्षिप्रग्राही आदि कहलाते हैं।

अनिश्रित का अर्थ हेतु—चिह्न द्वारा असिद्ध और निश्रित का आशय हेतु द्वारा सिद्ध वस्तु से है। जैसे—पूर्व में अनुभूत शीतल, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप हेतु से जूही के फूलों को जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान क्रमशः निश्रितग्राही अवग्रह आदि तथा उक्त हेतु के बिना ही उन फूलों को जानने वाले अनिश्रितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ऊपर जो निश्रित और अनिश्रित शब्द का अर्थ बतलाया है, वह नन्दीसूत्र की टीका में भी है। इसके सिवाय उक्त सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने एक दूसरा भी अर्थ बतलाया है—पर-धर्मों से मिश्रित-ग्रहण निश्रितावग्रह आदि और पर-धर्मों से अमिश्रित-ग्रहण अनिश्रितावग्रह आदि (आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १८३)।

असंदिग्ध का अर्थ निश्चित और संदिग्ध का अर्थ अनिश्चित है। जैसे—यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं; इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान निश्चित

(असंदिग्ध) ग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों में शीतलता होती है, इस प्रकार विशेष की अनुपलब्धि के साथ होने वाले संदेहयुक्त ज्ञान अनिश्चित (संदिग्ध) ग्राही-अवग्रह आदि कहलाते हैं।

जैसा कि पहले ज्ञान हुआ था, वैसा ही पीछे भी होता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता, उसे ध्रुवग्रहण और पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान में न्यूनाधिक रूप से अन्तर आ जाना अध्रुवग्रहण कहलाता है; जैसे—कोई मनुष्य साधन-सामग्री आदि समान होने पर उस विषय को अवश्य जान लेता है और दूसरा उसे कभी जानता है और कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मंदता के कारण कभी ग्रहण करने वाले और कभी न करने वाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

उक्त बहु आदि बारह भेदों में से बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर एवं क्षिप्र आदि शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर आधारित हैं।

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव इनमें विशिष्ट क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता ये अंतरंग असाधारण कारण हैं और अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव—इनसे होने वाले ज्ञान में क्षयोपशम की मंदता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्तता ये अन्तरंग असाधारण कारण हैं।

व्यंजनावग्रह के चार और अर्थावग्रह आदि के चौबीस भेदों को बहु-आदि बारह भेदों से गुणा करने पर ३३६ भेद होते हैं, यथा— अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों में से प्रत्येक के पाँच इन्द्रियों और मन से होने के कारण चौबीस भेद बनते हैं और इन चौबीस का

बहु आदि बारह के साथ गुणा करने से २८८ भेद हुए तथा व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इन दोनों के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होने और इन चार प्रकार के व्यंजनावग्रह का बहु आदि बारह के साथ गुणा करने से ४८ भेद हुए। इस प्रकार अर्थावग्रह आदि के २८८ और व्यंजनावग्रह के ४८ भेदों को मिलाने से कुल ३३६ भेद मतिज्ञान के हो जाते हैं।

व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेद होने का कारण यह है—

व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन के सिवाय शेष चार इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र से होता है तथा ईहा, अवाय एवं धारणारूप क्रमवर्ती ज्ञान नहीं होते हैं। इसलिए स्पर्शनादि चार इन्द्रियों से जन्य व्यंजनावग्रहों का बहु आदि बारह के साथ गुणा करने पर सिर्फ अड़तालीस भेद होते हैं।

मतिज्ञान के पूर्वोक्त ३३६ भेद श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के हैं, इनमें अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के—(१) औत्पातिकी बुद्धि, (२) वैनयिकी बुद्धि, (३) कर्मजा बुद्धि और (४) पारिणामिकी बुद्धि[1]—इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद हो जाते हैं।

उक्त चार बुद्धियों का स्वरूप निम्न प्रकार से समझना चाहिए—

---

१. (क) असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—
उप्पत्तिया वेणइया कम्मिया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भई॥

—नन्दीसूत्र २६

(ख) चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता, तं जहा—उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, परिणामिया।

—स्थानांग ४।४।३६४

औत्पातिकी बुद्धि[1] – जिस बुद्धि के द्वारा पहले बिना सुने, बिना जाने हुए पदार्थों के विशुद्ध अर्थ, अभिप्राय को तत्काल ग्रहण कर लिया जाता है, उसे औत्पातिकी बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि किसी प्रसंग पर कार्यसिद्धि करने में एकाएक प्रकट होती है।

वैनयिकी बुद्धि[2] - यह गुरुजनों आदि की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि होती है। यह बुद्धि कार्यभार वहन करने में समर्थ होती है और इहलोक व परलोक में फल देने वाली होती है।

कर्मजा बुद्धि[3] - उपयोगपूर्वक चिन्तन, मनन और अभ्यास करते-करते प्राप्त होने वाली बुद्धि को कर्मजा बुद्धि कहते हैं।

पारिणामिकी बुद्धि[4]—दीर्घायु के कारण बहुत काल तक संसार के अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि को पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि अनुमान, हेतु, दृष्टान्त आदि से कार्य को सिद्ध करने वाली और लोकहित करने वाली होती है।

इस प्रकार मतिज्ञान का विवेचन पूर्ण हुआ। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान – दोनों सहवर्ती हैं, तथापि पहले मतिज्ञान और उसके अनन्तर

---

१. पुव्वमदिट्ठमस्सुय मवेइ य तक्खणविसुद्धगहियत्था।
अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तिया नाम॥
—नन्दीसूत्र, गाथा ६६

२. भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभओ लोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी॥
—नन्दीसूत्र, गाथा ७३

३. उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलण विसाला।
साहुक्कार फलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥ —नन्दीसूत्र, गाथा ७६

४. अणुमाण-हेउ-दिट्ठंत-साहिया वयविवागपरिणामा।
हिय निस्सेय सफलवई बुद्धी परिणामिया नाम॥ —नन्दीसूत्र, गाथा ७८

श्रुतज्ञान होता है।[1] अतः अब मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया जाता है।

श्रुतज्ञान के चौदह और बीस भेद :

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं स त्तवि एए सपडिवक्खा ॥६॥
पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य स-समासा ॥७॥

गाथार्थ—अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट तथा इन सात के साथ इनके प्रतिपक्षी अर्थवाले सात नामों को जोड़ने से श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं। पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु एवं पूर्व ये दस तथा इन दसों में से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड़ देने से श्रुतज्ञान से बीस भेद होते हैं ॥६—७॥

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान के गाथा ६ में चौदह भेदों एवं गाथा ७ में बीस भेदों के नाम गिनाये हैं। उनमें से पहले चौदह भेदों का वर्णन करते हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद—श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का कथन करने के लिए यद्यपि गाथा में सिर्फ सात नामों का उल्लेख है और शेष सात नामों को समझने के लिए कहा है कि उक्त नामों से प्रतिपक्षी अर्थ रखने वाले सात नामों को और जोड़ लेना चाहिए। अतएव अक्षर आदि सात नामों के साथ उनके प्रतिपक्षी सात नाम जोड़ने से श्रुतज्ञान के निम्नलिखित चौदह भेद हो जाते हैं—

---

१. मईपुव्वं जेण सुअं न मई सुयपुव्विया। —नन्दीसूत्र २४

(१) अक्षरश्रुत, (२) अनक्षरश्रुत, (३) संज्ञीश्रुत,
(४) असंज्ञीश्रुत, (५) सम्यक्श्रुत, (६) मिथ्याश्रुत,
(७) सादिश्रुत, (८) अनादिश्रुत, (९) सपर्यवसितश्रुत,
(१०) अपर्यवसितश्रुत, (११) गमिकश्रुत, (१२) अगमिकश्रुत,
(१३) अंगप्रविष्टश्रुत, (१४) अंगबाह्यश्रुत ।[1]

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदों में से यद्यपि अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों में शेष बारह भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है लेकिन जिज्ञासुओं के दो प्रकार हैं—(१) व्युत्पन्नमति (प्रखरबुद्धि वाले) और (२) अव्युत्पन्नमति (मन्दबुद्धि वाले)। इनमें से प्रखरबुद्धि वाले तो अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों के द्वारा ही श्रुतज्ञान के बारे में समझ लेते हैं और मन्दबुद्धि वाले अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों के द्वारा शेष भेदों का वर्णन करने व समझने में समर्थ नहीं होते हैं। अतः उन्हें भी सरलता से बोध कराने की दृष्टि से शेष बारह भेदों का भी उल्लेख किया गया है।

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **अक्षरश्रुत**—'क्षर संचलने' धातु से अक्षर शब्द बनता है; जैसे—'न क्षरति, न चलति इत्यक्षरम्' अर्थात् ज्ञान का नाम अक्षर है। ज्ञान जीव का स्वभाव है और कोई द्रव्य अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता है। जीव भी एक द्रव्य है। ज्ञान उसका स्वभाव तथा गुण होने से वह जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता

---

१. सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा—अक्खरसुयं, अणक्खरसुयं, सण्णिसुयं, असण्णिसुयं, सम्मसुयं, मिच्छासुयं, साइयं, अणाइयं, सपज्जवसियं, अपज्जवसियं, गमियं, अगमियं, अंगपविट्ठं, अणंगपविट्ठं।

—नन्दीसूत्र ३७

है। ज्ञान जीव—आत्मा से कभी नहीं हटता है, सुषुप्ति अवस्था में भी जीव का स्वभाव होने से ज्ञान रहता ही है। अतः श्रुतज्ञान स्वयं ज्ञानात्मक है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुतज्ञान स्वयं अक्षर ही है।

अक्षर के तीन भेद हैं—(१) संज्ञाक्षर, (२) व्यंजनाक्षर और (३) लब्ध्यक्षर।[1]

संज्ञाक्षर[2]—जिस आकृति, बनावट, संस्थान द्वारा यह जाना जाए कि यह अमुक अक्षर है, उसे संज्ञाक्षर कहते हैं। विश्व की विभिन्न लिपियों के अक्षर इसके उदाहरण हैं। वे अपनी आकृति द्वारा उन अक्षरों का बोध कराते हैं; जैसे—अ, आ, इ, ई, उ आदि।

व्यंजनाक्षर[3]—जिससे अकार आदि अक्षरों के अर्थ का स्पष्ट बोध हो, उस प्रकार के उच्चारण को व्यंजनाक्षर कहते हैं, अर्थात् व्यंजनाक्षर केवल अक्षरों के उच्चारण का नाम है। व्यंजनाक्षर का उपयोग केवल बोलने में ही होता है।

लब्ध्यक्षर[4]—शब्द को सुनकर या रूप को देखकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना लब्ध्यक्षर कहलाता है।

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर से भावश्रुत पैदा होता है। इसलिए उन दोनों को द्रव्यश्रुत कहते हैं, क्योंकि अक्षर के उच्चारण से उसके अर्थ का बोध होता है और उससे भावश्रुत उत्पन्न होता है और

---

१. अक्खरसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—सन्नक्खरं, वंजणक्खरं, लद्धिअक्खरं।
—नन्दीसूत्र ३८

२. सन्नक्खरं अक्खरस्स संठाणागिई। —नन्दीसूत्र ३८

३. वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो। —नन्दीसूत्र ३८

४. लद्धिअक्खरं—अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ। —नन्दीसूत्र ३८

लब्ध्यक्षर भावश्रुत है। कहा भी है—'शब्दादिग्रहण समनन्तरमिन्द्रिय-मनोनिमित्तं शब्दार्थ पर्यालोचनानुसारि शंखोऽयमित्याद्यक्षरानुविद्ध ज्ञानमुपजायते इत्यर्थः'—शब्द ग्रहण करने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शब्दार्थ पर्यालोचनानुसार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लब्ध्यक्षर कहते हैं।

(२) अनक्षरश्रुत[1]—जो शब्द अभिप्रायपूर्वक वर्णात्मक नहीं, बल्कि ध्वन्यात्मक किया जाता है, उसे अनक्षरश्रुत कहते हैं। छींकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना, इत्यादि संकेतों से दूसरों का अभिप्राय जानना इसके रूप हैं।

(३) संज्ञीश्रुत—जिन पंचेन्द्रिय जीवों के मन है, वे संज्ञी और उनका श्रुत संज्ञीश्रुत कहलाता है।

संज्ञा के तीन भेद—(१) दीर्घकालिकी, (२) हेतुवादोपदेशिकी और (३) दृष्टिवादोपदेशिकी हैं।

अमुक काम कर चुका हूँ, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करूँगा इस प्रकार का भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा देव, नारक तथा गर्भज तिर्यंच एवं मनुष्यों को होती है।

अपने शरीर के पालन के लिए इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति के लिए उपयोगी सिर्फ वर्तमानकालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। यह संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों के होती है।

दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा चतुर्दश पूर्वधर को होती है।

---

१. ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं॥ नन्दीसूत्र, गाथा ८८

(४) **असंज्ञीश्रुत**—जिन जीवों के मन नहीं है, वे असंज्ञी कहलाते हैं और उनके श्रुत को असंज्ञीश्रुत कहते हैं।

दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञाओं की अपेक्षा संज्ञी और असंज्ञी जीवों की व्याख्या निम्न प्रकार समझनी चाहिए।

दीर्घकालिकी की अपेक्षा—जिसके ईहा—सदर्थ के विचारने की बुद्धि, अपोह—निश्चयात्मक विचारणा, मार्गणा—अन्वयधर्म-अन्वेषण करना, गवेषणा—व्यतिरेकधर्म स्वरूप-पर्यालोचन, चिन्ता—यह कार्य कैसे हुआ ? वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्यत में कैसे होगा ? इस प्रकार से वस्तुस्वरूप को अधिगत करने की शक्ति है, उन्हें संज्ञी कहेंगे। इनके अतिरिक्त शेष जीव असंज्ञी कहलायेंगे। जो गर्भज, औपपातिक—देव, नारक मनपर्याप्ति से सम्पन्न हैं, वे संज्ञी कहलायेंगे। क्योंकि त्रैकालिक विषय सम्बन्धी चिन्ता, विमर्श आदि उन्हीं के सम्भव हो सकता है तथा जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नहीं है, उन्हें असंज्ञी कहते हैं।

हेतुवादोपदेशिकी की अपेक्षा—जो बुद्धिपूर्वक स्वदेहपालन के लिये इष्ट आहार आदि में प्रवृत्ति और अनिष्ट आहार आदि से निवृत्ति लेता है उसे हेतु–उपदेश से संज्ञी कहा जाता है, इसके विपरीत असंज्ञी। इस दृष्टि की अपेक्षा चार त्रस (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) संज्ञी और पाँच स्थावर (पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और वनस्पतिकायिक) असंज्ञी हैं। सारांश यह है कि जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है वे संज्ञी और जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती है, वे असंज्ञी हैं।

दृष्टिवादोपदेशिकी की अपेक्षा—दृष्टि नाम दर्शन ज्ञान का है। सम्यग्ज्ञान का नाम संज्ञा है। ऐसी संज्ञा जिसके हो वह संज्ञी कहलाता

है। 'संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञान तदस्यास्तीति संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यत्श्रुतं तत्संज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतमिति।' जो सम्यग्दृष्टि क्षयोपशमज्ञान से युक्त है, वह दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा से संज्ञी कहलाता है और वह रागादि भावशत्रुओं को जीतने में प्रयत्नशील होता है। उसके श्रुत को संज्ञीश्रुत कहते हैं।

(५) **सम्यक्श्रुत**—सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत सम्यक्श्रुत कहलाता है।

(६) **मिथ्याश्रुत**—मिथ्यादृष्टि जीवों के श्रुत को मिथ्याश्रुत कहते हैं।

(७) **सादिश्रुत**—जिसकी आदि (प्रारम्भ, शुरूआत) हो, वह सादिश्रुत है।

(८) **अनादिश्रुत**—जिसकी आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

(९) **सपर्यवसितश्रुत**—जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसितश्रुत कहलाता है।

(१०) **अपर्यवसितश्रुत**—जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसितश्रुत है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि, सपर्यवसित और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अनादि, अपर्यवसित है।

(११) **गमिकश्रुत**—आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता से उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिकश्रुत है, जैसे—दृष्टिवाद।

(१२) **अगमिकश्रुत**—जिसमें एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिकश्रुत कहते हैं, जैसे कालिकश्रुत।

(१३) **अंगप्रविष्टश्रुत**—जिन शास्त्रों की रचना तीर्थङ्करों के

उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, उन्हें अंगप्रविष्टश्रुत कहते हैं, अर्थात् तीर्थङ्कर वस्तु का स्वरूप—भाव कहते हैं, प्रतिपादन करते हैं और गणधरों के द्वारा उन भावों को सूत्र रूप में गूंथा जाना अंगप्रविष्ट श्रुत है। आचारांग आदि बारह सूत्र अंगप्रविष्टश्रुत हैं।

(१४) **अंगबाह्यश्रुत**—गणधरों के अतिरिक्त, अंगों का आधार लेकर जो स्थविरों के द्वारा प्रणीत शास्त्र हैं, वे अंगबाह्यश्रुत हैं; जैसे—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्र।

अंगबाह्यश्रुत के दो प्रकार हैं—(१) आवश्यक और (२) आवश्यक-व्यतिरिक्त। गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमें हो उसे आवश्यक श्रुत[1] कहते हैं। इसके छह अध्ययन हैं—सामायिक, जिनस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत के अनेक प्रकार हैं, जिनकी विशेष व्याख्या व नाम आदि की जानकारी के लिए नन्दीसूत्र देखें।

सपर्यवसित और सान्त (अन्तसहित) दोनों का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार अपर्यवसित और अनन्त एकार्थक हैं। सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसितश्रुत इन चार के द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा चार-चार प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

द्रव्यापेक्षा—एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि—प्रारम्भसहित और सपर्यवसित—अन्तसहित है। अर्थात् जब जीवों को सम्यक्त्व हुआ तो उसके साथ श्रुतज्ञान भी हुआ। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि हुआ और जब सम्यक्त्व का त्याग करता है अथवा केवलज्ञानी होता है, तब श्रुतज्ञान का अंत हो जाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा

१. 'आवश्यक' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए अनुयोगद्वारसूत्र, अध्याय ८ देखें।

श्रुतज्ञान सादिसान्त (सपर्यवसित) है। लेकिन समस्त जीवों की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है; क्योंकि संसार में सबसे पहले अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ और अमुक जीव के मुक्त होने पर अन्त हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतएव सब जीवों की अपेक्षा धाराप्रवाह रूप से श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है।

क्षेत्रापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है; जैसे—भरत और ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थङ्करों द्वारा जब तीर्थ की स्थापना होती है, तब द्वादशांगी श्रुतज्ञान की आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है तब श्रुतज्ञान का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-सान्त हुआ। लेकिन महाविदेहक्षेत्र में तीर्थ का कभी विच्छेद नहीं होता है, इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

कालापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है; क्योंकि तीसरे आरे के अन्त में और चौथे, पाँचवें आरे में रहता है तथा छठे आरे में नष्ट हो जाता है। किन्तु नोउत्सर्पिणी, नोअवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भावापेक्षा—श्रुतज्ञान में श्रुत शब्द से सम्यक्श्रुत (सुश्रुत) और मिथ्याश्रुत (कुश्रुत) रूप दोनों का ग्रहण किया गया है। श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। भव्य जीवों के सम्यक्भावों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है और अभव्य जीवों के भावों की अपेक्षा से मिथ्यारूप श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भव्यत्व और अभव्यत्व, ये दोनों जीवों के पारिणामिक भाव हैं। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से स्वयमेव हुआ करता है; अर्थात् द्रव्य के स्वाभाविक स्वरूप परिणमन को पारिणामिक भाव कहते हैं।

श्रुतज्ञान के बीस भेद

गाथा में पर्याय, अक्षर आदि दस नाम गिनाये हैं। उन नामों तथा उन नामों में से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड़ देने से श्रुतज्ञान के बीस भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) पर्यायश्रुत, (२) पर्यायसमासश्रुत,
(३) अक्षरश्रुत, (४) अक्षरसमासश्रुत,
(५) पदश्रुत, (६) पदसमासश्रुत,
(७) संघातश्रुत, (८) संघातसमासश्रुत,
(९) प्रतिपत्तिश्रुत, (१०) प्रतिपत्तिसमासश्रुत,
(११) अनुयोगश्रुत, (१२) अनुयोगसमासश्रुत,
(१३) प्राभृत-प्राभृतश्रुत, (१४) प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत,
(१५) प्राभृतश्रुत, (१६) प्राभृतसमासश्रुत,
(१७) वस्तुश्रुत, (१८) वस्तुसमासश्रुत,
(१९) पूर्वश्रुत और (२०) पूर्वसमासश्रुत।

इन बीस भेदों को संक्षेप में समझने से पहले समास शब्द का आशय बतलाते हैं।

अधिक, समुदाय या संग्रह को समास कहते हैं।

(१) उत्पत्ति के प्रथम समय में लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के होने वाले कुश्रुत के अंश से दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, वह **पर्यायश्रुत** है।

(२) उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय अर्थात् दो तीन, चार आदि संख्याओं को **पर्यायसमासश्रुत** कहते हैं।

(३) अकारादि लब्ध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर के ज्ञान को **अक्षरश्रुत** कहते हैं।

(४) लब्ध्यक्षरों के समुदाय को, अर्थात् एक से अधिक दो, तीन, चार आदि संख्याओं के ज्ञान को **अक्षरसमासश्रुत** कहते हैं।

(५) अर्थावबोधक अक्षरों के समुदाय को पद और उसके ज्ञान को **पदश्रुत** कहते हैं।

(६) पदों के समुदाय का ज्ञान **पदसमासश्रुत** कहलाता है।

(७) गति आदि चौदह मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा के एकदेश के ज्ञान को **संघातश्रुत** कहते हैं। जैसे - गतिमार्गणा के देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक—ये चार भेद हैं। उनमें से एक का ज्ञान होना **संघातश्रुत** है।

(८) किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान **संघातसमासश्रुत** कहलाताता है।

(९) गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिये समस्त संसार के जीवों को जानना **प्रतिपत्तिश्रुत** है।

(१०) गति आदि दो-चार द्वारों के जरिये जीवों का ज्ञान होना **प्रतिपत्तिसमासश्रुत** है।

(११) 'सतपय परूवणया दव्व पमाणं च' इस गाथा में कहे हुए अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना **अनुयोगश्रुत** है।

(१२) एक से अधिक दो-तीन अनुयोगद्वारों का ज्ञान **अनुयोग-समासश्रुत** है।

(१३) दृष्टिवाद अंग में प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार है। उसमें से किसी एक का ज्ञान **प्राभृत-प्राभृतश्रुत** है।

(१४) दो-चार प्राभृत-प्राभृतों के ज्ञान को **प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत** कहते हैं।

(१५) जिस प्रकार कई उद्देशकों का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होता है। उस एक का ज्ञान होना **प्राभृतश्रुत** है।

(१६) एक से अधिक प्राभृतों के ज्ञान को **प्राभृतसमासश्रुत** कहते हैं।

(१७) कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है, उसमें से एक का ज्ञान **वस्तुश्रुत** है।

(१८) दो-चार वस्तु अधिकारों के ज्ञान को **वस्तुसमासश्रुत** कहते हैं।

(१९) अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसमें से एक का ज्ञान **पूर्वश्रुत** कहलाता है।

(२०) दो-चार आदि चौदह पूर्व तक के ज्ञान को **पूर्वसमासश्रुत** कहते हैं।

चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) उत्पाद, (२) अग्रायणीयप्रवाद (३) वीर्यप्रवाद (४) अस्तिनास्तिप्रवाद, (५) ज्ञानप्रवाद (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद (९) प्रत्याख्यानप्रवाद (१०) विद्याप्रवाद (११) कल्याण, (१२) प्राणवाद, (१३) क्रियाविशाल और (१४) लोकबिन्दुसार।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्र के बल से श्रुतज्ञानी साधारणतया सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल और सब भावों को जानते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कथन करने के बाद अब अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का वर्णन करते हैं।

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

गाथार्थ—अनुगामी, वर्धमान, प्रतिपाती और इनमें प्रत्येक के प्रतिपक्षी भेदों को जोड़ने से अवधिज्ञान के छह भेद होते हैं। ऋजुमति और विपुलमति—ये मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं तथा केवलज्ञान का एक भेद है, अर्थात् केवलज्ञान का अन्य कोई भेद नहीं होता है।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये तीनों ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता बिना सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान होने से प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। उनमें से सर्वप्रथम अवधिज्ञान का वर्णन करते हैं।

अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान के दो भेद हैं—(१) भवप्रत्यय तथा (२) गुणप्रत्यय।[1] गुणप्रत्यय को क्षयोपशमजन्य भी कहते हैं। इनकी विशद व्याख्या इस प्रकार है—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान[2]—भव माने जन्म और प्रत्यय माने कारण, अर्थात् जो अवधिज्ञान उस-उस गति में जन्म लेने से ही प्रगट होता है,

---

१. ओहिनाण-पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवपच्चइयं च खाओवसमियं च।

—नन्दीसूत्र, ६

२. (क) दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव।

—स्थानांग, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१

(ख) भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २१

जिसके लिए संयम, तप आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती उसे **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** कहते हैं। यह अवधिज्ञान देव और नारकों में होता है और उनके जीवनपर्यन्त रहता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान जन्म लेने से नहीं, किन्तु जन्म लेने के बाद यम-नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के बल से उत्पन्न होता है, उसे **गुणप्रत्यय** या **क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान** कहते हैं। यह अवधिज्ञान मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों को ही होता है।[1]

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में अन्तर

यद्यपि गुणप्रत्यय की तरह भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी सामान्यतया क्षयोपशम (तयावरणिज्जाणंकम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं) तो अपेक्षित है ही किन्तु यहाँ भव की मुख्यता का कथन निमित्त-भेद की अपेक्षा से किया है। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और उसके द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, उनको अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म में व्रत, तप आदि अनुष्ठान नहीं करने पड़ते हैं। ऐसे जीवों को अपनी स्थिति के अनुरूप न्यूनाधिक रूप में जन्म लेते ही अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह उस गति में जीवनपर्यन्त रहता है। जैसे कि पक्षी जाति में जन्म लेने से ही आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति में जन्म लेने मात्र से कोई आकाश में नहीं उड़ सकता, जब तक कि वायुयान आदि का सहारा न ले।

---

१. दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साणं चेव पंचिदिय-तिरिक्ख-जोणियाणं चेव। —स्थानांग, स्थान २, उद्दे० १, सूत्र ७१

उक्त उदाहरण में पक्षी को आकाश में उड़ने की शक्ति जन्मतः प्राप्त होने का संकेत किया है, उसी प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान के लिए समझ लेना चाहिए कि देव-नारकों को उस-उस जाति में जन्म लेने से अवधिज्ञान हो जाता है। वहाँ आपेक्षिक दृष्टि से जन्म की मुख्यता और क्षयोपशम की गौणता है। इसीलिए भव की मुख्यता की अपेक्षा भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है।

इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें जन्म लेने मात्र से ही अवधिज्ञान नहीं हो जाता है। किन्तु व्रत-अनुष्ठान आदि के द्वारा अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम होने पर किन्हीं व्यक्तिविशेषों को अवधिज्ञान होना और उसमें वृद्धिहानि होना भी संभव है। इसीलिए ऐसे अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान में यावज्जीवन कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है, वह समान रहता है; अल्पाधिकता आदि नहीं होती है। किन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में वृद्धि-ह्रास-जन्य तरतमता होने से अल्पाधिकता होती है। इसीलिए गाथा में गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के निम्नलिखित छह भेद बताये हैं-

(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाती (६) अप्रतिपाती।[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, उसे अनुगामी कहते हैं; अर्थात् जिस स्थान पर जिस जीव में यह अवधिज्ञान प्रकट होता

१. छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, तं जहा—अणुगामिए, अणणुगामिए, वड्ढमाणए, हीयमाणए, पडिवाई, अपडिवाई।

— स्थानांग, स्थान ६, सूत्र ५२६

है, वह जीव उस स्थान के चारों ओर संख्यात-असंख्यात योजन तक देखता है तथा दूसरे स्थान में जाने पर भी वह उतने क्षेत्र को जानता-देखता है, उसे अनुगामी कहते हैं। (अनु-पश्चात् गमनं इति अनुगमनं—अनुगच्छतीति, तस्य भावः आनुगामिकं, अर्थात् जो जीव के साथ-साथ जाता रहता है, उसे आनुगामिक कहते हैं।)

अननुगामी—जो साथ न चले, किन्तु जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थों को जाने और उत्पत्ति-स्थान को छोड़ देने पर न जाने, उसे अननुगामी कहते हैं। जैसे किसी का ज्योतिषज्ञान ऐसा होता है कि अपने निश्चित स्थान पर तो प्रश्नों का ठीक से उत्तर दे सकता है किन्तु दूसरे स्थान पर नहीं। इस प्रकार अपने ही स्थान पर अवस्थित रहने वाले अवधिज्ञान को अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्प विषय वाला होने पर भी परिणाम-विशुद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिनोंदिन बढ़े, अर्थात् अधिकाधिक विषय वाला हो जाता है, वह वर्धमान कहलाता है। जैसे दियासलाई से पैदा की हुई चिनगारी सूखे ईंधन के संयोग से क्रमशः बढ़ती जाती है, वैसे ही इस अवधिज्ञान के लिए समझना चाहिए।

हीयमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण दिनों-दिन क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो जाए, उसे हीयमान कहते हैं।

प्रतिपाती—इसका अर्थ पतन होना, गिरना और समाप्त हो जाना है। जो अवधिज्ञान जगमगाते दीपक के वायु के झोंके से एका-एक बुझ जाने के समान एकदम लुप्त हो जाता है, उसे प्रतिपाती

कहते हैं। यह अवधिज्ञान जीवन के किसी भी क्षण में उत्पन्न और लुप्त भी हो सकता है।

अप्रतिपाती—जिस अवधिज्ञान का स्वभाव पतनशील नहीं है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं। केवलज्ञान होने पर भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान नहीं जाता है; क्योंकि वहाँ अवधिज्ञानावरण का उदय नहीं होता है, जिससे जाए। अपितु वह केवलज्ञान में समा जाता है एवं केवलज्ञान के समक्ष उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है, जैसे कि सूर्य के समक्ष दीपक का प्रकाश।

यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्त समय में होता है और उसके बाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अप्रतिपाती अवधिज्ञान को परमावधिज्ञान भी कहते हैं।[1]

हीयमान और प्रतिपाती अवधिज्ञान में यह अन्तर है कि हीयमान का तो पूर्वापेक्षा धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है और प्रतिपाती दीपक की तरह एक ही क्षण में नष्ट हो जाता है।

अवधिज्ञान के उक्त छह भेद नन्दीसूत्र के अनुसार बतलाये गये हैं। लेकिन कहीं-कहीं प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अवस्थित यह दो भेद मानकर छह भेद गिनाये हैं। अनवस्थित और अवस्थित के लक्षण ये हैं—

अनवस्थित—जल की तरंग के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता

---

१. यद्यपि अनुगामी और अननुगामी इन दो भेदों में शेष भेदों का अन्तर्भाव हो सकता है। लेकिन वर्धमान, हीयमान आदि विशेष भेद बतलाने के लिए उनका पृथक्-पृथक् न्यास किया गया है।

है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में अवस्थित रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति-पर्यन्त अथवा आजन्म ठहरता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है।

उक्त दोनों भेद प्रायः प्रतिपाती और अप्रतिपाती के समान लक्षण वाले हैं। किन्तु मात्र नामभेद की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे जा सकते हैं। अन्य कोई पार्थक्य नहीं है।

अवधिज्ञान का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वर्णन

अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है। लेकिन कितने, कैसे आदि इस क्षयोपशमजन्य तरतमता को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा की अपेक्षा से स्पष्ट करते हैं।

द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्य से, अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से लोक के क्षेत्रगत रूपी द्रव्य को और अलोक में भी कल्पना से यदि लोकप्रमाण के असंख्यात खण्ड किये जायें तो अवधिज्ञानी उन्हें भी जानने-देखने की शक्ति रखता है।

यद्यपि अलोक में कोई पदार्थ नहीं है, तथापि यह कल्पना अवधिज्ञान की सामर्थ्य दिखाने के लिए की गई है कि अलोक में लोकप्रमाण असंख्यात खण्ड जितने क्षेत्र को घेर सकते हैं, उतने क्षेत्र के

रूपी द्रव्यों को जानने और देखने की भी शक्ति अवधिज्ञानी में होती है।

काल से— अवधिज्ञानी जघन्य से आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र के रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अतीत और अनागत काल के रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

भाव से—जघन्य से रूपी द्रव्य की अनन्त पर्यायों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से भी अनन्त पर्यायों को जानता-देखता है।

अनन्त के अनन्त भेद होते हैं। चाहे ये भेद जोड़, बाकी, गुणा और भाग रूपों में से किसी भी प्रकार के हों। फिर भी अनन्त भेद ही होंगे। इसलिए जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त में अन्तर समझ लेना चाहिए। अनन्त भाव का आशय सम्पूर्ण भावों के अनन्तवें भाव जितना समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति और श्रुत को कुमति और कुश्रुत (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं।[1]

अवधिज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अब मनःपर्ययज्ञान का कथन करते हैं।

मनःपर्ययज्ञान— मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।[2]

---

१. (क) अण्णाण परिणामे णं भन्ते कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—मइअण्णाण परिणामे, सुयअण्णाण परिणामे, विभंगणाण परिणामे। —**प्रज्ञापना, पद १३**

(ख) मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। —**तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ३१**

२. मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उज्जुमति चेव विउलमति चेव। —**स्थानांग, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१**

ऋजुमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना, अर्थात् विषय को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मनः-पर्ययज्ञान कहलाता है।

विपुलमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ की अनेक पर्यायों को जानना, अर्थात् चिन्तनीय वस्तु की पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहलाता है।

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में अन्तर

यद्यपि ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान, ज्ञान होने से विशेष को जानते हैं, तो भी ऋजुमति को जो सामान्यग्राही कहा जाता है, उसका मतलब इतना है कि वह विशेषों को जानता है, परन्तु विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता है। इसीलिए इन दोनों की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं—

द्रव्य से—ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त-अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को विशुद्धता और अधिक स्पष्टता से जानता-देखता है।

क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कृष्ट से नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्षुल्लक प्रतर (कुबड़ी उड़ोविजय) तक को और ऊपर ज्योतिष चक्र के उपरि-तलपर्यन्त और तिरछे अढाई द्वीपपर्यन्त के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अढाई अंगुल अधिक तिरछी दिशा में क्षेत्र के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को देखता-जानता है।

काल से—ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असंख्यातवें भाग

और उत्कृष्ट से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग—भूत और भविष्यत् के मनोगत भावों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के मन से चिन्तित या जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता-देखता है।

भाव से—ऋजुमति मनोगत भावों की असंख्यात पर्यायों को जानता-देखता है, लेकिन सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता-देखता है।

उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त दोनों प्रकार के मनःपर्ययज्ञानों में निम्नलिखित कुछ और विशेषताएँ हैं—

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जानता है।

ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है परन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान नहीं जाता है। वह केवलज्ञान में परिणत हो जाता है और तब उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है।[1]

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल—अपूर्ण—पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप से समान होने पर भी इनमें विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकृत अन्तर है। जैसे—

---

१. (क) उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ, पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ, पासइ……इत्यादि। —नन्दीसूत्र १८

(ख) विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २४

(१) मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को विशद रूप से जानता है। इसलिए उसमें विशुद्धतर है।

(२) अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक है जबकि मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्त मध्यलोक है।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं, किन्तु मनःपर्ययज्ञान के स्वामी ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त—संयत मनुष्य ही होते हैं।

(४) अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, परन्तु मनःपर्ययज्ञान का विषय मनोद्रव्य मात्र है।

(५) अवधिज्ञान परभव में भी साथ जा सकता है, जबकि मनःपर्ययज्ञान इहभविक ही होता है।

अब केवलज्ञान का कथन करते हैं—

केवलज्ञान—जो ज्ञान किसी की सहायता के बिना अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता के बिना मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेय पदार्थों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखने वाला है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञानादि चारों क्षायोपशमिक ज्ञान विशुद्ध हो सकते हैं किन्तु विशुद्धतम नहीं, जबकि केवलज्ञान विशुद्धतम ही होता है। केवलज्ञान नित्य, निरावरण, शाश्वत और अनन्त होता है, जबकि शेष क्षायोपशमिक चारों ज्ञान वैसे नहीं हैं। केवलज्ञान के अवान्तर भेद नहीं होते हैं।

शक्ति की अपेक्षा एक साथ कितने ज्ञान ?

ज्ञान के उक्त पांच भेदों में से एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर

चार ज्ञान तक भजना से हो सकते हैं; अर्थात् किसी आत्मा में एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव हैं। परन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते हैं। क्योंकि यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान होगा और केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके साथ अन्य चार ज्ञान अपूर्ण होने से नहीं हो सकते। जब दो होते हैं तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। क्योंकि पाँच ज्ञानों में से ये दोनों ज्ञान सहचारी हैं। समस्त संसारी जीवों के ये दोनों ज्ञान सहचारी रूप से रहते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं, तब मति, श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत, मनःपर्ययज्ञान। क्योंकि तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही संभव हैं और उस अवस्था में चाहे अवधिज्ञान हो, या मनःपर्ययज्ञान, परन्तु मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। जब चारों ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान। क्योंकि ये चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं।

यह दो, तीन, चार ज्ञानों का एक साथ होना शक्ति की अपेक्षा संभव है, अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं।[1]

मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान पंच महाव्रतधारी मनुष्य को ही होते हैं, अन्य को नहीं।

इस तरह मतिज्ञान के २८, श्रुतज्ञान १४ अथवा २०, अवधिज्ञान के ६, मनःपर्ययज्ञान के २ और केवलज्ञान का एक भेद—इन सब भेदों को मिलाने से पाँचों ज्ञानों के ५१ या ५७ भेद होते हैं।

ज्ञान के पाँचों भेदों का वर्णन करने के बाद आगे की गाथा

---

१. (क) जीवाभि० प्रतिपत्ति ३, सूत्र ४१

(ख) एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र ३०

में उनके आवरणों और दर्शनावरण कर्म के भेदों की संख्या का कथन करते हैं।

एसि जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥९॥

गाथार्थ—आँख की पट्टी के समान इन मतिज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों का जो आवरण है, वह उन ज्ञानों का आवरण कहलाता है। दर्शनावरण कर्म द्वारपाल के समान है और उसके चार दर्शनावरण और पाँच निद्रा कुल मिलकर नौ भेद होते हैं।

ज्ञानावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं। जैसे आँख पर पट्टी बाँधने पर देखने में रुकावट आती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने में रुकावट आती है। लेकिन यह रुकावट ऐसी नहीं होती है कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। जैसे घने बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी दिन-रात का भेद समझाने वाला सूर्य का कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य बना रहता है। इसी प्रकार कर्मों का चाहे जैसा गाढ़ आवरण हो जाय, लेकिन आत्मा को कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य रहता है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है और आवरण ज्ञानगुण को आच्छादित तो कर सकता है, समूलोच्छेद नहीं कर सकता है। आवृत होने पर भी केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो नित्य उद्घाटित—अनावरित ही रहता है।[1] यदि ज्ञान का समूलोच्छेद हो जाय तो फिर

---

१ सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागोणिच्चुग्घाडिओ हवई।
जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा ॥
—नन्दीसूत्र ७५

जीव-अजीव का कोई भेद नहीं रहेगा। ज्ञान आत्मा का गुण (स्वभाव) नहीं माना जायेगा। ज्ञान के द्वारा ही तो जीव-अजीव का भेद किया जाता है कि ज्ञान जीव का गुण है, अजीव का नहीं और स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। इसलिए ज्ञानावरण कर्म आत्मा के गुण को आच्छादित ही कर सकता है, समूल नाश नहीं।

यहाँ आँखों पर पट्टी का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जैसे मोटे, पतले कपड़े की पट्टी होगी, तदनुसार कम-ज्यादा दिखेगा। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की आच्छादन शक्ति में भी न्यूनाधिक रूप से पृथक्-पृथक् शक्ति होती है।

पूर्व में वर्णित ज्ञान के पाँचों भेदों के कथनानुसार उनके आवरण करने वाले कर्म के निम्नलिखित पाँच भेद होते हैं—

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।[1]

मतिज्ञानावरण—मतिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मतिज्ञानावरण कहलाता है। पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के मतिज्ञानों के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों को भी मतिज्ञानावरण कहेंगे। क्योंकि वे सब मतिज्ञान के भेद हैं, इसलिए उन सबका सामान्य से मतिज्ञान शब्द से और उन-उनका आवरण करने वाले कर्मों का मतिज्ञानावरण इस एक शब्द से ग्रहण कर लिया गया है। इसी प्रकार

---

१. (क) नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं॥

—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा० ४

(ख) स्थानांग, स्थान ५, उ० ३, सूत्र ४६४

(ग) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र ६

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेदों के आवरण करने वाले कर्मों को भी सामान्य से श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः-पर्ययज्ञानावरण समझना चाहिए।

श्रुतज्ञानावरण—श्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को श्रुत-ज्ञानावरण कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण—जो कर्म अवधिज्ञान का आवरण करता है उसे अवधिज्ञानावरण कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरण—जो कर्म मनःपर्ययज्ञान का आवरण करे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं।

केवलज्ञानावरण—केवलज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को केवलज्ञानावरण कहते हैं।

ज्ञानावरण कर्म की उक्त पाँच प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[1] जो प्रकृति अपने घात्य ज्ञानगुण का पूर्णतया घात करे, वह सर्वघाती और जो अपने घात्य ज्ञानगुण का आंशिक रूप से घात करे, वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण यह चार प्रकृतियाँ देशघाती हैं और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं कर सकता है, परन्तु केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है।

दर्शनावरण कर्म के स्वभाव के लिए द्वारपाल का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल किसी को राजा के दर्शन नहीं करने देता, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म जीव को पदार्थों

---

१. णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

—स्थानांगसूत्र २।४।१०५

को देखने की शक्ति में रुकावट डालता है। दर्शनावरणचतुष्क और पाँच निद्राओं को मिलाकर दर्शनावरण कर्म के नौ भेद होते हैं।

दर्शनावरणचतुष्क के नाम और लक्षण आगे की गाथा में कहते हैं।

चक्खुदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

गाथार्थ—नेत्र तथा नेत्र के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों व मन तथा अवधि व केवल इनसे दर्शन के चार भेद होते हैं। यहाँ वस्तु में विद्यमान सामान्यधर्म के ग्रहण को दर्शन कहा गया है। दर्शन के चार प्रकार कहे गये हैं, अतः उसके आवरण करने वाले कर्मों के भी चार भेद समझने चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष रूप दो धर्म रहते है, इनमें से सामान्यधर्म की अपेक्षा जो पदार्थों की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं और दर्शन को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं।

दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। दर्शन के इन चार भेदों का आवरण करने से दर्शनावरण के भी उस नाम वाले निम्नलिखित चार भेद हो जाते हैं—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

चक्षुदर्शनावरण—चक्षु के द्वारा जो वस्तु के सामान्यधर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं और चक्षु के द्वारा होने वाले उस सामान्य-धर्म के ग्रहण को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन आदि चारों इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषयभूत सामान्यधर्म के प्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसके आवरण करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्यधर्म का बोध होने को अवधिदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करने वाले कर्म को अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलदर्शनावरण—सम्पूर्ण द्रव्यों के सामान्यधर्मों के अवबोध को केवलदर्शन एवं उसके आवरण करने वाले को केवलदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शन की तरह मनःपर्ययदर्शन नहीं मानने का कारण यह है कि मनःपर्ययज्ञान क्षयोपशम के प्रभाव से पदार्थों के विशेष-धर्मों को ग्रहण करता है, सामान्यधर्म को ग्रहण नहीं करता है।

चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों के जन्म से ही नेत्र नहीं होते हैं एवं चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवों के नेत्र उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाते हैं अथवा रतौंधी आदि नेत्ररोग हो जाने से कम दीखने लगता है। इसी प्रकार चक्षु-रिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर या अस्पष्ट होना अचक्षुदर्शना-वरण कर्म के उदय के कारण होता है।

दर्शनावरण कर्म के चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदों का कथन करने के अनन्तर निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि शेष पाँच भेदों एवं वेदनीय कर्म का कथन आगे की दो गाथाओं में करते हैं।

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला य चंकमओ ॥११॥
दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

गाथार्थ—जिसमें सरलता से प्रतिबोध हो, उसे निद्रा और जिसमें कष्ट से प्रतिबोध हो उसे निद्रा-निद्रा तथा बैठे-बैठे या खड़े-खड़े जो नींद आये उसे प्रचला एवं चलते-चलते नींद आने को प्रचला-प्रचला निद्रा कहते हैं। दिन में विचार किये हुए कार्य को रात्रि में निद्रावस्था में करके वाली निद्रा को स्त्यानर्द्धि निद्रा कहते हैं। इस निद्रा में जीव को अर्धचक्री अर्थात् वासुदेव के बल से आधे बल जितनी शक्ति हो जाती है। वेदनीय कर्म मधु (शहद) से लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान है और यह कर्म दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्म के नौ भेदों में से चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदों का वर्णन पूर्व गाथा में हो चुका है और शेष पाँच भेदों व वेदनीयकर्म का कथन यहाँ किया जाता है।

दर्शनावरण के शेष पाँच भेदों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।[1] इनके लक्षण इस प्रकार हैं :-

---

१. (क) णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे।

—स्थानांग, स्था० ९, सूत्र ६६८

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, गाथा ५, ६

निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी निद्रा आये कि सुख-पूर्वक जाग सके, अर्थात् जगाने में मेहनत नहीं पड़ती है, ऐसी निद्रा को निद्रा कहते हैं।

निद्रा-निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को नींद से जगाना अत्यंत दुष्कर हो अर्थात् जो सोया हुआ जीव बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ से हिलाने पर भी मुश्किल से जागता है, ऐसी नींद को निद्रा-निद्रा कहते हैं।

प्रचला—जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आने लगे, उसको प्रचला कहते हैं।

प्रचला-प्रचला—जिस कर्म के उदय से चलते-फिरते ही नींद आ जाय, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं।

स्त्यानर्द्धि—जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में करने की सामर्थ्य प्रकट हो जाय, उसे स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा के उदय में जीव नींद में ऐसे असम्भव कार्यों को भी कर लेता है, जिनका जाग्रत स्थिति में होना संभव नहीं है और इस निद्रा के दूर होने पर अपने द्वारा निद्रित अवस्था में किये गये कार्य का स्मरण भी नहीं रहता है।

स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाये (**स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धि**) अथवा जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकांक्षा का एकत्रीकरण हो जाय,

(ग) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध-यश्च।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, सूत्र ८

उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा (स्त्यानासंघातीभूता गृद्धिर्विनचिन्तितार्थ साधन विषयाऽभिकांक्षा यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः) कहते हैं।

प्राकृत भाषा में स्त्यानर्द्धि के स्थान पर 'थीणद्धि' यह निपात हो जाता है।

यदि वज्रऋषभनाराच संहनन वाले जीव को स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो तो उसमें वासुदेव के आधे बल के बराबर बल हो जाता है। इस निद्रा वाला जीव मरने पर नरक में जाता है।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण देशघाती हैं और शेष छह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सर्वघाती प्रकृतियों में केवल-दर्शनावरण मुख्य है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेदों का कथन करने के अनन्तर अब वेदनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

वेदनीय कर्म का स्वरूप

वेदनीय—जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभव अर्थात् वेदन कराये, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव तलवार की शहद लगी धार को चाटने के समान है। इस कर्म के उदय से जीव विषय-जन्य ऐन्द्रियिक सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय, असातावेदनीय।[1]

---

१. (क) सायावेयणिज्जे य असायावेयणिज्जे।

—प्रज्ञापना, पद २३, उ० २, सू० २९३

(ख) वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।

—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा० ७

(ग) सदसद्वेद्ये। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र ९

तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाटने के समान सातावेदनीय है और शहद चाटते समय उस धार से जीभ कटने के समान असाता-वेदनीय है।

सातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रियविषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव होता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

वेदनीय कर्म द्वारा आत्मा को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह इन्द्रियविषयजन्य सुख-दुःख समझना चाहिए। आत्मा को जो अपने स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है, वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं होती है। वेदनीयकर्मजन्य सुख-दुःख की अनुभूति क्षणिक होती है।

गाथा में वेदनीय कर्म के लिए मधुलिप्त तलवार की धार का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिकसुख दुःख से मिला हुआ ही है। उसमें निराकुलता नहीं होती है। परिणाम कलुष होते हैं, जो संसार बढ़ाने के कारण हैं।

अब आगे की गाथा में चार गतियों में वेदनीय कर्म का स्वरूप बतलाते हुए मोहनीय कर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

गाथार्थ—देव और मनुष्य गति में प्रायः सातावेदनीय कर्म का और तिर्यंच एवं नरक गति में असातावेदनीय कर्म का उदय होता है। मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य के समान है और

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियविषयजन्य सुख-दुःख का अनुभव करते रहते हैं। वे न तो एकान्त सुख-ही-सुख का और न दुःख-ही-दुःख का वेदन करते हैं। उनका सुख, दुःख से मिश्रित होता है और सुख के बाद दुःख एवं दुःख के अनन्तर सुख का क्रम चलता रहता है। फिर भी किन गतियों में सातावेदनीय का और किन गतियों में असातावेदनीय का विशेषरूप से उदय होने का कथन गाथा के पूर्वार्द्ध में किया गया है कि देवों और मनुष्यों को प्रायः सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है। यहाँ प्रायः शब्द से यह सूचित किया गया है कि उनके सातावेदनीय के अलावा असातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है। चाहे वह उदय अल्पांश में ही हो, परन्तु उसकी संभावना है।

जैसे बहुत से देवों के देवगति से च्युत होने के समय, अपनी ऋद्धि की अपेक्षा अन्य देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से ईर्ष्या, मात्सर्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, तब तथा अन्यान्य अवसरों पर भी असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यों के बारे में समझ लेना चाहिए अथवा गर्भावस्था में एवं स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनों के वियोग, धन-सम्पत्ति के नाश आदि कारणों से भी उनको दुःख हुआ करता है।

तिर्यंचों और नारक जीवों को प्रायः असातावेदनीय कर्म का उदय रहता है। यहाँ प्रायः शब्द से यह सूचित किया गया है कि उन्हें सातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है, किन्तु ऐसे अवसर कम ही होते हैं। जैसे तिर्यंचों में किन्हीं-किन्हीं हाथी, घोड़े, कुत्ते, आदि जीवों

का बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवों में भी तीर्थंकरों के जन्म आदि कल्याणकों के समय कुछ सुख का अनुभव हुआ करता है।

देवों को सांसारिक सुखों का विशेष अनुभव होता है और मनुष्यों को उनसे कम। इसी प्रकार निगोदिया जीवों और नारकों को दुःख का विशेष अनुभव होता है और उनकी अपेक्षा अन्य तिर्यंच जीवों को कम अनुभव होता है।

वेदनीय कर्म का विवेचन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त मोहनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

मोहनीय कर्म का स्वरूप

मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य (शराब) के समान है। जैसे मद्य के नशे में मनुष्य अपने हिताहित का भान भूल जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव में अपने स्वरूप एवं हिताहित को पहचानने और परखने की बुद्धि नहीं होती है। कदाचित् अपने हिताहित को परखने की भी बुद्धि भी आ जाये तो भी तदनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर पाता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—

(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय।[1]

दर्शनमोहनीय—यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा समझना चाहिए।

---

१. (क) मोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पणत्ते ? गोयमा ! दुविहे पणत्ते-तं जहा—दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य।

—प्रज्ञापना, कर्मबंध पद २३, उ० २

(ख) मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा।

—उत्तराध्ययन अ० ३३, गा० ८

सामान्य उपयोग रूप दर्शन को ग्रहण नहीं करना चाहिए। वह इस दर्शन से भिन्न है। अतः जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसको घात करने वाले—आवृत करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं।

चारित्रमोहनीय—आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चारित्र है। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चारित्रगुण को घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के मुख्य भेद बतलाने के पश्चात आगे की गाथा में दर्शनमोहनीय का विशेष कथन करते हैं।

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

गाथार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकारों में क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीय शुद्ध, मिश्रमोहनीय अर्द्धशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय अशुद्ध होता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म बन्ध की अपेक्षा मिथ्यात्वरूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामों के द्वारा उसके सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्वमोहनीय ये तीन भेद हो जाते हैं।[1] इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

१. (क) दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे। —प्रज्ञापना, कर्मबंध पद २३, सू० २

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, गाथा ९

सम्यक्त्वमोहनीय—जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता, परन्तु इसके कारण आत्मस्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो पाता है और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व में मलीनता आ जाती है।

मिश्रमोहनीय—इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खटमिट्ठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए।

मिथ्यात्वमोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। सन्मार्ग से विमुख रहता है, जीव, अजीव आदि तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा नहीं करता है और अपने हित-अहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल सर्वघाती रस वाले होते हैं। उस रस के एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक—ये चार प्रकार होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे नीम या ईख का एक किलो रस लिया जाय तो उन-उन के मूल स्वाभाविक रस को एकस्थानक कहेंगे। लेकिन जब इस एक किलो रस को स्वाद में

तीव्रता लाने के लिए अग्नि से तपाकर आधा कर लिया जाय तो द्विस्थानक और दो भाग कम करके एक भाग शेष रखें तो त्रिस्थानक और जब एक-चतुर्थांश भाग ही शेष रखा जाए तो चतुःस्थानक कहेंगे।

जनसाधारण की भाषा में चतुःस्थानक को चौथाई, त्रिस्थानक को तिहाई और द्विस्थानक को आधा भाग और जो स्वाभाविक है, उसे एकस्थानक कह सकते हैं।

इसी प्रकार शुभ-अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मंद शक्ति को एकस्थानक समझना चाहिए। इनमें से द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस सर्वघाती हैं और मिथ्यात्वमोहनीय में चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक--ये तीनों प्रकार की सर्वघाती रस-शक्ति होती है। मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) में द्विस्थानक रस-शक्ति और सम्यक्त्वमोहनीय में एकस्थानक रस-शक्ति होती है।

जैसे कोद्रव (कोदों--एक प्रकार का अन्न) के खाने से नशा होता है, परन्तु जब उन कोदों का छिलका निकाल दिया जाय और छाछ आदि से धोकर शोध लिया जाए तो उसमें मादक शक्ति बहुत न्यून रह जाती है। इसी प्रकार कोदों के समान हिताहित की परीक्षा करने में जीव को विफल बनाने वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल होते हैं। उनमें सर्वघाती रस होता है लेकिन जब जीव अपने विशुद्ध परिणामों के बल से उन कर्मपुद्गलों की सर्वघाती रस-शक्ति को घटा देता है और सिर्फ एकस्थानक शेष रह जाता है, तब इस एकस्थानक शक्ति वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है और कुछ भाग शुद्ध एवं कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदों के समान मिश्र-मोहनीय के कर्मपुद्गलों को समझना चाहिए। इन कर्मपुद्गलों में

द्विस्थानक रस होता है। इन तीनों प्रकारों में मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती है और शेष दो—सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय देशघाती हैं।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय के तीन प्रकारों को बतलाकर अब आगे की गाथा में सम्यक्त्वमोहनीय का स्वरूप कहते हैं।

जियअजिय पुण्णपावासव संवरबन्धमुक्खनिज्जरणा।
जेणं सद्दहइयं तयं सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥१५॥

गाथार्थ—जिस कर्म से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, मोक्ष और निर्जरा इन नवतत्त्वों पर जीव श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय है। उसके क्षायिक आदि बहुत से भेद होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि नवतत्त्वों पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। ऐसा कहने में अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चश्मा आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आवरण रूप होने पर भी आत्मा को तत्त्वार्थ-श्रद्धान करने में व्याघात नहीं पहुँचाता है।

नवतत्त्व

नव तत्त्वों के नाम ये हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष।[1] जिनके संक्षेप में लक्षण इस प्रकार हैं—

जीव—जो प्राणों को धारण करे उसे जीव कहते हैं। प्राण के दो भेद हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। इनमें से द्रव्यप्राण के पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), तीन बल (काय, वचन, मन),

१. नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो। — स्थानांग, स्थान ९, सूत्र ६६५

आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस भेद हैं। ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को भावप्राण कहते है।

जीव के दो भेद हैं—(१) मुक्तजीव और (२) संसारीजीव।

मुक्तजीव—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञान-दर्शन आदि भावप्राणों से युक्त हैं, उन्हें मुक्तजीव कहते हैं।

संसारी जीव—जो अपने यथायोग्य द्रव्य-प्राणों और ज्ञानादि भाव-प्राणों से युक्त होकर नरकादि चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, उन्हें संसारी जीव कहते हैं। जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं।

अजीव—जिसमें प्राण न हो, अर्थात् जड़ हो, उसे अजीव कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल—ये अजीव हैं। इनमें से पुद्गलास्तिकाय रूपी, अर्थात् रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले हैं और शेष चारों अरूपी हैं, अर्थात् रूपादि गुणों से रहित हैं। अजीव तत्त्व के चौदह भेद हैं।

पुण्य—जिसके उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य के दो भेद हैं (१) द्रव्य-पुण्य और (२) भाव-पुण्य। जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे द्रव्यपुण्य और जीव के दया, करुणा, दान, भावना आदि शुभ परिणामों को भावपुण्य कहते हैं। पुण्य शुभ प्रकृति रूप है और शुभ योग से बँधता है। पुण्यप्रकृति के बयालीस भेद हैं।

पाप—जिसके उदय से दुःख की प्राप्ति हो, आत्मा को शुभ कार्यों से पृथक् रखे, उसे पाप कहते हैं। इसके दो भेद हैं—द्रव्यपाप, भाव-पाप। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है वह द्रव्य-पाप है और जीव के अशुभ परिणाम को भावपाप कहते हैं। पाप अशुभ प्रकृति रूप है और अशुभ योगों से बँधता है। पापप्रकृति के बयासी भेद हैं।

आस्रव—शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं– द्रव्यास्रव, भावास्रव। शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ-अशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभ-अशुभ परिणामों को भावास्रव कहते हैं। आस्रव तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

संवर—आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। आस्रव के बयालीस भेद हैं। उनका जितने-जितने अंशों में निरोध होगा, उतने-उतने अंशों में संवर कहलायेगा। यह संवर (आस्रव का निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र आदि से होता है।[1] संवर के दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भावसंवर और कर्मपुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं। संवर के सत्तावन भेद हैं।

निर्जरा—आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्मपुद्गलों के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो प्रकार हैं—(१) द्रव्यनिर्जरा, (२) भावनिर्जरा। आत्मप्रदेशों से कर्मों का एकदेश पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते हैं। निर्जरा के बारह भेद हैं।

बंध—आस्रव द्वारा आये हुए कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिलना बंध कहलाता है। राग-द्वेष आदि कषायों और योग प्रवृत्ति के द्वारा संसारी जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को

---

१. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो हवइ अणासवो॥ —उत्तराध्ययन, ३।३०

ग्रहण करता रहता है ।[1] यह क्रम अनादि से चालू है कि राग, द्वेष, कषाय आदि के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन कर्मपुद्गलों के सम्बन्ध से कषायवान होता है। योग और कषाय कर्मबन्ध के कारण हैं। बंध के दो प्रकार हैं—भावबंध और द्रव्यबंध। आत्मा के जिन परिणामों से कर्मबंध होता है अथवा कर्मबन्ध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणामों को भावबंध कहते हैं और कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिलना द्रव्यबन्ध कहलाता है। बन्ध के चार भेद हैं।

मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के दो प्रकार हैं—द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। सम्पूर्ण कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्षजनक अथवा द्रव्यमोक्षजन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है। मोक्ष के नौ एवं पन्द्रह भेद हैं।[2]

उक्त नवतत्त्वों में से जीव, अजीव और बन्ध ज्ञेय हैं। पुण्य, पाप और आस्रव हेय हैं और संवर, निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय हैं।

सम्यक्त्व के भेद

पूर्वोक्त जीवादि नवतत्त्वों के श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व के कई भेद हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) व्यवहारसम्यक्त्व और (२) निश्चयसम्यक्त्व। किसी अपेक्षा से क्षायिकसम्यक्त्व, औपशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिक

---

१. परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादिभावेहिं ॥ प्रव० स०

२. नव तत्त्व का विशेष वर्णन देवेन्द्रसूरिरचित स्वोपज्ञटीका गाथा १५, पृष्ठ ३० से ३२ में देखिए।

सम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व, सास्वादनसम्यक्त्व, दीपकसम्यक्त्व इत्यादि भेद होते हैं। संक्षेप में इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

व्यवहारसम्यक्त्व—कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

निश्चयसम्यक्त्व—जीवादि तत्त्वों का यथारूप से श्रद्धान करना निश्चयसम्यक्त्व है।[1] यह आत्मा का वह परिणाम है, जिसके होने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय—दर्शन मोहनीय की इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम-विशेष होता है उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में होने वाले परिणाम-विशेष को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षयोपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं।

उदय में आये हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गलों का क्षय तथा जो उदय को प्राप्त नहीं हुए उन पुद्‌गलों का उपशम इस प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षयोपशम होता है। यहाँ मिथ्यात्व का उदय प्रदेशोदय की

---

१. (क) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —**तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० २**

(ख) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ —**समयसार १३**

अपेक्षा समझना चाहिए, रसोदय की अपेक्षा नहीं। औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनों प्रकार का उदय नहीं होता है और प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नहीं होता, वह प्रदेशोदय तथा जिसका उदय आत्मा पर प्रभाव डालता है, वह रसोदय है।

वेदकसम्यक्त्व—क्षायोपशमिकसम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब सम्यक्त्वमोहनीय के अंतिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। वेदकसम्यक्त्व के बाद जीव को क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

सास्वादनसम्यक्त्व—उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक के उसके परिणामविशेष को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन को सासादन भी कहते हैं।

कारकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं—सामायिक, प्रतिक्रमण, गुरुवंदन आदि को करना कारकसम्यक्त्व है।

रोचकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं में रुचि रखने को रोचक-सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं से होने वाले लाभों का समर्थन, प्रसार करना दीपकसम्यक्त्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अन्य भेदों के लक्षण समझ लेने चाहिए।

सम्यक्त्वमोहनीय का कथन करके आगे की गाथा में दर्शन-मोहनीय के शेष भेदों—मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय के स्वरूप को कहते हैं।

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहजहा अन्ने।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥१६॥

गाथार्थ—जैसे नालिकेर द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को अन्न पर राग-द्वेष नहीं होता है, वैसे ही मिश्रमोहनीय कर्म के कारण जिनधर्म पर भी राग-द्वेष नहीं होता है। इसका समय अन्त-र्मुहूर्त मात्र है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से जीव जिनोक्त धर्म से विपरीत श्रद्धान करने वाला होता है।

विशेषार्थ—गाथा में मिश्रमोहनीय (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के परिणामों व उनके स्वरूप को बतलाया गया है।

जैसे नालिकेर द्वीप (जहाँ नारियल के सिवाय दूसरे खाद्यान्न पैदा नहीं होते हैं) में उत्पन्न मनुष्य ने अन्न के विषय में कुछ न सुना हो और न देखा हो तो उसे अन्न के बारे में न तो रुचि—राग होता है और न अरुचि—द्वेष होता है, किन्तु तटस्थ रहता है। इसी प्रकार जब मिश्र-मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब जीव को वीतरागप्ररूपित धर्म पर रुचि-अरुचि (राग-द्वेष) नहीं होती है। अर्थात् वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा नहीं होती है और वह असत्य है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचिरूप द्वेष भी नहीं होता है। वह वीतरागी और सरागी एवं उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है। मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त है।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण और जिनप्ररूपित धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती है। जैसे रोगी को पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगती हैं और कुपथ्य चीजें अच्छी लगती हैं, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से वीतरागप्ररूपित

धर्म-सिद्धान्तों पर द्वेष और उससे विपरीत सिद्धान्तों पर राग होना है।

मिथ्यात्व के दस भेद[1]

(१) साधु को साधु न समझना।
(२) असाधु को साधु समझना।
(३) अहिंसामूलक धर्म को धर्म नहीं मानना।
(४) हिंसा, झूठ आदि अधर्म—पापमूलक कार्यों को धर्म मानना। जिन कृत्यों या विचारों से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है।
(५) अजीव को जीव समझना।
(६) जीव को अजीव समझना-मानना। जैसे गाय, पक्षी, अज, वनस्पति आदि मूक आदि प्राणियों में आत्मा नहीं है।
(७) कुमार्ग को सन्मार्ग समझना। अर्थात् आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले कारणों को अच्छा मानना। केवलीप्ररूपित मार्ग से विपरीत प्ररूपणा सही मानना।
(८) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना, अर्थात् मोक्ष के कारणों को संसारबंध के कारण कहना।
(९) कर्मरहित को कर्मसहित मानना। जैसे परमात्मा निष्कर्म हैं, किन्तु उन्हें भक्तों की रक्षा और दैत्यों का नाश करने वाला कहना।

---

१. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मं धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा।

—स्थानांग १०, सूत्र ७३४

(१०) कर्मसहित को कर्मरहित मानना। भक्तों की रक्षा और दैत्यों का नाश करना राग-द्वेष के बिना नहीं हो सकता, तथापि उन्हें कर्मों से रहित मानना; 'भगवान सब कुछ करते हुए भी अलिप्त हैं' ऐसा कथन करना।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय के भेदों का कथन करने के अनन्तर अब आगे की गाथा में चारित्रमोहनीय कर्म के भेदों का वर्णन करते हैं।

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

गाथार्थ—चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं -कषाय-मोहनीय और नोकषायमोहनीय। उनमें से कषायमोहनीय के सोलह और नोकसायमोहनीय के नौ भेद होते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इनके चार-चार भेद होने से कषायों के सोलह भेद होते हैं।

विशेषार्थ— चारित्रमोहनीय के मुख्य रूप से कषाय और नोकषाय ये दो भेद होते हैं।[1] इनके लक्षण, भेद आदि को क्रमशः निम्न प्रकार समझना चाहिए।

कषाय—जो आत्मा के गुणों को कषे (नष्ट करे)। अथवा कष का अर्थ है जन्म-मरण-रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे

१. (क) चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य॥
—उत्तरा० अ० ३३, गा १०

(ख) प्रज्ञापना, कर्मबंध पद २३ उ०, २

हो उसे कषाय कहते हैं।[1] कषायमोहनीय के सोलह भेद हैं, जिनका संक्षेप में निरूपण करते हैं।

मूल रूप में कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। इन चारों के लक्षण इस प्रकार हैं—

क्रोध—समभाव को भूलकर आक्रोश में भर जाना। दूसरे पर रोष करना क्रोध है।

मान—गर्व, अभिमान, झूठे आत्मदर्शन को मान कहते हैं।

माया—कपटभाव, अर्थात् विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

लोभ—ममता-परिणामों को लोभ कहते हैं।

इन कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते हैं, जो क्रमशः अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) तथा संज्वलन (मंद स्थिति) के नाम से कहे जाते हैं। इनके लक्षण ये हैं—

अनन्तानुबंधी—जो जीव के सम्यक्त्व गुण का घात करके अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं।[2]

अप्रत्याख्यानावरण—जो कषाय आत्मा के देशविरतिगुण-चारित्र

---

१ कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययंति व जतो गमयंति कसं कसायत्ति॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२७

२. अनन्तानुबंधी-सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

(श्रावकपन) का घात करे, अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आंशिक त्यागरूप अल्पप्रत्याख्यान न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होती है।[1]

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के उदय होने पर एकदेशत्यागरूप श्रावकाचार के पालन करने में तो बाधा नहीं आती है, किन्तु सर्वत्यागरूप-साधुधर्म का पालन नहीं हो पाता है।[2]

संज्वलन—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय, परिषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमणधर्म के पालन करने को प्रभावित करे, असर डाले, उसे संज्वलन कहते हैं। यह कषाय सर्वविरति चारित्र को निर्दोष रूप से पालन करने में बाधा डालती है।[3]

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकारों के साथ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार मूल भेदों को जोड़ने से कषायमोहनीय के सोलह भेद निम्न प्रकार से हो जाते हैं—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

---

१. अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

२. प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तम चारित्रलाभस्तु न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

३. संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।[1]

उक्त चारों प्रकार की चार-चार कषायों को संक्षेप में कहने के लिए 'चतुष्क' या 'चौकड़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे अनन्तानुबन्धीचतुष्क या अनन्तानुबन्धी चौकड़ी कहने से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन चतुष्क के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कषायों के भेदों का कथन करने के अनन्तर अब नोकषाय-मोहनीय के स्वरूप का कथन करते हैं।

नोकषाय—जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं। हास्य, रति आदि नोकषाय के प्रकार हैं, जिनका कथन यथाप्रसंग किया जा रहा है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है—

कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

कषायों के सहवर्ती होने से और कषायों के सहयोग से पैदा होने से एवं कषायों को उत्पन्न कराने में प्रेरक होने से हास्यादि नोकषायों का अन्य कषायों के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिए अर्थात्

---

१. कसायवेयणिज्जे णं भंते! कतिविधे पण्णत्ते?
गोयमा! सोलसविधे पण्णत्ते, तं जहा—अणंताणुबन्धी कोहे, अणंताणुबंधी माणे, अ० माया, लोभे, अपच्चक्खाणे कोहे एवं माणे, माया, लोभे, पच्चक्खाणावरणे कोहे एवं माणे, माया, लोभे, संजलणा कोहे एवं माणे माया लोभे।
—**प्रज्ञापना, कर्मबंधपद २३, उ० २**

नोकषायों को कषायरूप प्राप्त करने में कषायों का सहकार आवश्यक है और उनके संसर्ग से ही नोकषायों की अभिव्यक्ति होती है। वैसे वे निष्क्रिय-सी हैं। केवल नोकषाय प्रधान नहीं हैं।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय के कषाय और नोकषाय मोहनीय इन दो भेदों के उत्तरभेदों का संक्षेप में संकेत करने के बाद आगे की गाथा में कषायमोहनीय के अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकारों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन करते हैं।

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की कषायों की कालमर्यादा क्रमशः जीवनपर्यन्त, एक वर्ष, चार मास एवं पन्द्रह दिन (एक पक्ष) की है और ये क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति के बन्ध कारण हैं तथा सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातचारित्र का क्रमशः घात करती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अनन्तानुबन्धी आदि कषायमोहनीय के चारों प्रकारों की काल मर्यादा, उनसे बंधने वाली गतियों एवं आत्मा के घात होने वाले गुणों का नाम-निर्देश किया है। जिनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धी कषाय जीवनपर्यन्त रहती है, अर्थात् यह कषाय जन्मजन्मान्तर तक भी विद्यमान रहती है। इसके सद्भाव में नरक गति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है और यह आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाली है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय की कालमर्यादा एक वर्ष है और इसके

उदय से तिर्यंचगति का बन्ध होता है। इसके कारण जीव देशविरति (श्रावकचारित्र) को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय की कालमर्यादा चार माह है। इसके उदय से जीव के मनुष्यगति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है और यह जीव के सर्वविरति (श्रमणधर्म) चारित्र का घात करती है, अर्थात् सर्व-विरति चारित्र नहीं हो पाता है।

संज्वलन कषाय की कालमर्यादा एक पक्ष की है। इस प्रकार की कषायों की स्थिति में जीव को देवगति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है तथा यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता है।

अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का समयमर्यादा विषयक पूर्वोक्त व्यवहारनय की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि बाहुबलि आदि को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रही और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए ही हुआ। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्यादृष्टियों के नवग्रैवेयकों में उत्पन्न होने का वर्णन देखने को मिलता है।

अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के चार प्रकारों की कालमर्यादा आदि बतलाने के अनन्तर अब दृष्टान्त द्वारा उनके विशेष स्वरूप का कथन करते हैं।

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥
मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसमाणो ॥२०॥

गाथार्थ—क्रोध—जल, रेणु, पृथ्वी और पर्वतराजि के समान,

मान—बेत्रलता, काष्ठ, अस्थि और शैल—पत्थर-स्तम्भ के समान, माया—अवलेखिका, गोमूत्रिका, भेड़ के सींग, घनवंशी के मूल के समान और लोभ—हरिद्रारंग, दीपक के काजल के रंग, कीचड़ के रंग एवं किरमिची रंग के समान चार-चार प्रकार के समझने चाहिए।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त आत्मा के परिणामों को दृष्टान्तों के द्वारा समझाया गया है। इनमें क्रमशः पहले से संज्वलन, दूसरे से प्रत्याख्यानावरण, तीसरे से अप्रत्याख्यानावरण और चौथे से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के प्रतीकों को गिनाया है, जैसे—

संज्वलन क्रोध जल में खींची गई रेखा सदृश, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि में खींची गई रेखा सदृश, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी में खींची गई रेखा के समान और अनन्तानुबन्धी क्रोध पर्वत में आई दरार के समान होता है। इसी प्रकार संज्वलन आदि के मान, माया, लोभ के लिए दृष्टान्त के प्रतीकों का क्रमशः सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। जिनका विवेचन इस प्रकार है।

संज्वलन क्रोध—जल में खींची जाने वाली रेखा के समान यह क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध—जैसे धूलि में खींची गई रेखा हवा के द्वारा कुछ समय में भर जाती है वैसे ही इस प्रकार का क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—सूखी मिट्टी में आई दरार जैसे पानी के संयोग से फिर भर जाती है, वैसे ही इस प्रकार के क्रोध की शान्ति कुछ परिश्रम और प्रयत्न द्वारा हो जाती है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत फटने से आई दरार कभी नहीं जुड़ती, इसी प्रकार यह क्रोध परिश्रम और उपाय करने पर भी शान्त नहीं होता है।

संज्वलन मान—बिना परिश्रम के नमाये जाने वाले बेंत के समान क्षणमात्र में अपने आग्रह को छोड़कर नमने वाला होता है।

प्रत्याख्यानावरण मान—सूखे काष्ठ में तेल आदि की मालिश करने पर नरमाई आने की संभावना हो सकती है। इसी प्रकार यह मान कुछ परिश्रम और उपायों से दूर होने वाला होता है।

अप्रत्याख्यानावरण मान—जैसे हड्डी को नमाने के लिये कठिन परिश्रम के सिवाय उपाय भी करना पड़ता है, वैसे ही यह मान अति परिश्रम और उपाय से दूर होता है।

अनन्तानुबन्धी मान—जैसे कठिन परिश्रम से भी पत्थर के खम्भे को नमाना असम्भव है, वैसे ही यह मान भी दूर नहीं होता है।

संज्वलन माया—बांस के छिलके में रहने वाला टेढ़ापन बिना श्रम के सीधा हो जाता है, उसी प्रकार यह मायाभाव सरलता से दूर हो जाता है।

प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए मूतने वाले बैल की मूत्ररेखा की वक्रता के समान कुटिल परिणाम वाली होती है। यह कुटिल स्वभाव कठिनाई से दूर होता है।

अप्रत्याख्यानावरण माया—भेड़ के सींगों में रहने वाली वक्रता कठिन परिश्रम व अनेक उपाय द्वारा दूर होती है। इसी प्रकार के परिणाम वाली माया को अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते हैं। यह मायापरिणाम अति परिश्रम व उपाय से सरल होते हैं।

अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ में रहने वाली वक्रता—टेढ़ेपन

का सीधा होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी माया के परिणाम होते हैं।

संज्वलन लोभ—सहज ही छूटने वाली हल्दी के रंग के समान इस लोभ के परिणाम होते हैं।

प्रत्याख्यानावरण लोभ—काजल के रंग के समान इस लोभ के परिणाम कुछ प्रयत्न से छूटते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ—गाड़ी के पहिये की कीचड़ के समान अति कठिनता से छूटने वाले परिणाम वाला होता है।

अनन्तानुबन्धी लोभ—जैसे किरमिची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता है, वैसे ही इस प्रकार के लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी नहीं छूटते हैं।

इस प्रकार कषायमोहनीय के भेदों का निरूपण करने के अनन्तर आगे दो गाथाओं में नोकषामोहनीय के भेदों का वर्णन करते हैं।

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा।
सनिमित्तमन्नहा[1] वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥
पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

गाथार्थ—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के

१. 'सनिमित्तमन्नहा वा'—'सनिमित्त'—कारणवश और 'अन्नहा' बिना कारण के—इन दोनों में तात्कालिक बाह्य पदार्थ कारण हों तो सकारण और मात्र मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण, बिना कारण के, ऐसा आशय 'सनिमित्तमन्नहा' पद से विवक्षित किया गया है।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के भाव पैदा होते हैं, उन्हें क्रमशः नोकषायमोहनीय के हास्यादि जुगुप्सा पर्यन्त भेद समझना चाहिए। जिस कर्म के उदय से पुरुष, स्त्री और पुरुष-स्त्री दोनों से रमण करने की मैथुनेच्छा उत्पन्न होती है, उसे क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कहते हैं। इन तीनों वेदों के अभिलाषा-भाव क्रमशः करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में नोकषायमोहनीय के नौ भेदों का कथन किया गया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसकवेद।[1] इन नामों के आगे 'मोहनीय कर्म' शब्द जोड़ लेना चाहिए। उक्त नौ भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

हास्य—जिस कर्म के उदय से कारणवश, अर्थात् भाँड़ आदि की चेष्टा देखकर अथवा बिना कारण के हँसी आती है, उसे हास्यमोहनीय कर्म कहते हैं, अर्थात् हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

रति—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों में राग-प्रेम हो, उसे रति-मोहनीय कर्म कहते हैं।

अरति—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के पदार्थों से अप्रीति—द्वेष होता है, उसे अरतिमोहनीय कर्म कहते हैं।

---

1. नोकसाय वेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविधे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थीवेय वेयणिज्जे पुरिसवे० नपुंसगवे० हासे रती अरती भए सोगे दुगुंछा। —प्रज्ञापना० कर्मबन्ध पद २३, उ० २

शोक—कारणवश या बिना कारण ही जिस कर्म के उदय से शोक हो, उसे शोक-मोहनीय कर्म कहते हैं।

भय—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या बिना कारण भय हो—डर पैदा हो, भयशीलता उत्पन्न हो, उसे भयमोहनीय कर्म कहते हैं।

भय के सात प्रकार हैं—

(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय (चोर, डाकू आदि से भय होना), (४) अकस्मात भय (आकस्मिक दुर्घटनाजन्य भय), (५) आजीविका भय, (६) मृत्यु भय, और (७) अपयश भय।[1]

जुगुप्सा[2]—जिस कर्म के उदय से कारण या बिना कारण के ही बीभत्स—घृणाजनक पदार्थों में देखकर घृणा पैदा होती है, उसे जुगुप्सा-मोहनीय कर्म कहते हैं।

मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। मैथुनेच्छा की पूर्ति के योग्य नाम कर्म के उदय से प्रगट बाह्य चिन्ह विशेष को द्रव्यवेद और तदनुरूप अभिलाषा को भाववेद कहते हैं। वेद के तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इनके लक्षण और भाव निम्न प्रकार हैं—

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने

---

१. सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए। —स्थानांग ७।५४९

२. कुच्छा का संस्कृत में कुत्सा रूप बनता है। इसके घृणा और निन्दा अर्थ होते हैं। घृणा का आशय यहाँ स्पष्ट किया है। लेकिन जब निन्दा-रूप अर्थ लिया जाए तब अपने दोष छिपाने और दूसरे के दोष प्रकट करने रूप आशय समझ लेना चाहिए।

की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। इसकी अभिलाषा के भाव करीषाग्नि के समान होते हैं। करीष माने सूखा गोबर, उपला, कंडा, छाना, ऊँपला। जैसे—उपले में सुलगी हुई आग जैसे-जैसे जलाई जाए वैसे-वैसे बढ़ती है, वैसे ही पुरुष के करस्पर्श आदि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढ़ती है।

पुरुषवेद—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे पुरुषवेद कहते हैं। इस वेद वाले की अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि का दिया है। जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती है और शीघ्र बुझती है, उसी प्रकार पुरुष की मैथुन की अभिलाषा शीघ्र उत्तेजित होकर शान्त हो जाती है।

नपुंसक वेद—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे नपुंसकवेद कहते हैं। इसकी वासना के लिए नगरदाह का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे नगर में आग लगे तो वह कई दिन तक नगर को जलाती है और उसको बुझाने में बहुत दिन लगते हैं। इसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय-सेवन से तृप्ति भी नहीं होती।

इस प्रकार नोकषायमोहनीय के नौ भेदों का कथन पूर्ण हुआ।[1]

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३३, गाथा ११ में 'सत्तविहं नवविहं वा कम्मं णोकसायजं'—नोकषाय मोहनीय के सात या नौ भेदों का जो कथन है, उसका कारण यह है कि जब वेद के स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद ये तीन भेद नहीं करके सामान्य से वेद को गिनते हैं तो हास्यादि छह और वेद ये सात भेद हो जाते हैं और वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन भेद किये जाते हैं तो नौ भेद होते हैं। साधारणतया नोकषाय मोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ भी नौ भेदों के नाम गिनाये गये हैं और विवेचन किया है।

संज्वलनकषाय चतुष्क और नौ नोकषाय के अतिरिक्त चारित्रमोहनीय की शेष अनन्तानुबन्धी क्रोधादि बारह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्म का निरूपण करने के अनन्तर आयु और नाम कर्म के स्वरूप आदि का वर्णन करते हैं।

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सतट्ठी ॥२३॥

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का है और इसका स्वभाव हडि (खोड़ा, बेड़ी) के समान है। नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के सदृश है और उसके बयालीस, तिरानबे, एकसौ तीन और सड़सठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आयुकर्म और नामकर्म का स्वभाव तथा उन-उन कर्मों के अवान्तर भेदों की संख्या बतलाई है। उनमें से पहले आयुकर्म का वर्णन करते हैं।

आयुकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक रूप से जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपों का त्याग करता है यानी मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं।[1]

आयुकर्म का स्वभाव कारागृह के समान है। जैसे अपराधी अपराध के अनुसार अमुक काल तक कारागृह में डाला जाता है और अपराधी उससे छुटकारा पाने की इच्छा भी करता है, किन्तु अवधि पूरी हुए बिना निकल नहीं पाता है, उसे निश्चित समय तक वहाँ रहना पड़ता है। वैसे ही आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि

---

१. यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।१०।२

तक नारकादि गतियों में रहना पड़ता है। जब बाँधी हुई आयु भोग लेता है, तभी उस-उस शरीर से छुटकारा मिलता है।

आयुकर्म का कार्य जीव को सुख दुःख देना नहीं है, परन्तु नियत अवधि तक किसी एक शरीर में बनाये रहने का है।

नारकजीव नरकगति में अत्यन्त दुखी रहते हैं। वे वहाँ जीने की अपेक्षा मरना पसन्द करते हैं, किन्तु आयुकर्म के अस्तित्व से, भोगने योग्य आयुकर्म बने रहने से उनकी वह इच्छा पूरी नहीं होती। वैसे ही उन मनुष्य और देवों को जिन्हें कि विषय-भोगों के साधन प्राप्त हैं और उन्हें भोगने के लिए जीने की प्रबल इच्छा रहते हुए भी आयु-कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पड़ता है। अर्थात् आयुकर्म के अस्तित्व से जीव अपने निश्चित समय प्रमाण अपनी गति एवं स्थूल शरीर का त्याग नहीं कर सकता है और क्षय होने पर मरता है, यानी समय पूरा होने पर उस स्थूल शरीर में नहीं रह सकता है। आयुकर्म के दो प्रकार हैं--अपवर्त्तनीय, अनपवर्त्तनीय।

अपवर्त्तनीय आयु—बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्त्तनीय आयु या अपवर्त्य आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, शस्त्रघात, विषपान आदि बाह्य कारणों से सौ-पचास आदि वर्षों के लिए बाँधी गई आयु को अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना आयु का अपवर्त्तन है। इस आयु को जनसाधारण अकाल मृत्यु भी कहते हैं।

अनपवर्त्तनीय आयु—जो आयु किसी भी कारण से कम न हो। जितने काल तक के लिए बाँधी गई है, उतने काल तक भोगी ही जाय, वह आयु अनपवर्त्तनीय या अनपवर्त्य आयु कहलाती है।

उपपात जन्म लेने वाले, अर्थात् नारक और देव, चरम शरीरी (तद्भव मोक्षगामी, उस शरीर से मोक्ष जाने वाले), उत्तम पुरुष,

अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और असंख्यात वर्ष जीवी—देवकुरु, उत्तरकुरु, आदि में उत्पन्न—मनुष्य, तिर्यंच[1] अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य, तिर्यंच अपवर्तनीय आयु वाले होते हैं।

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बंध परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में बांधी जाती है। उस समय अगर परिणाम मंद हों तो आयु का बन्ध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बंध गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बंधकालीन कालमर्यादा नहीं घटती है और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है। तीव्र परिणाम से गाढ़ रूप से बद्ध आयु शस्त्र, विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मंद परिणाम से शिथिल रूप से बद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने से पहले भी अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकालमृत्यु और नियत स्थिति वाले भोग को अनपवर्त्तना या कालमृत्यु कहते हैं।

अपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम (तीव्र शस्त्र, विष, अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकालमृत्यु होती है, उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है) सहित होती है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के अवश्य होता है। क्योंकि वह आयु कालमर्यादा समाप्त होने के पहले

---

१. असंख्यातवर्षजीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक हैं, परन्तु असंख्यातवर्षजीवी तिर्यंच उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के बाहर द्वीप समुद्रों में भी पाये जाते हैं।

भोगने योग्य है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की होती है, अर्थात् उस आयु में अकालमृत्यु लाने वाले निमित्तों का संन्निधान होता भी है और नहीं भी होता है। किन्तु उक्त निमित्तों का संन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत काल-मर्यादा के पहले पूर्ण नहीं होती है। सारांश यह कि अपवर्तनीय आयु वाले प्राणियों को अकाल मरण के लिए शस्त्र आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है, और अनपवर्तनीय आयु वालों को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले, लेकिन वे अकाल में नहीं मरते है।

आयुकर्म के चार भेद हैं—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु, और नरकायु।[1]

देवायु—जिसके निमित्त से देवगति का जीवन बिताना पड़ता है, उसे देवायु कहते हैं।

मनुष्यायु—जिसके उदय से मनुष्य गति में जन्म हो वह मनुष्यायु है।

तिर्यंचायु—जिसके उदय से तिर्यंचगति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, उसे तिर्यंचायु कहते हैं।

नरकायु—जिसके उदय से नरकगति का जीवन बिताना पड़ता है उसे नरकायु कहते हैं।

आयुकर्म का निरूपण होने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त नामकर्म के स्वरूप व भेद-प्रभेदों का कथन करते हैं—

---

१. (क) नेरइय तिरिक्खाउ मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं॥
—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा० १२

(ख) प्रज्ञापना पद २३, उ० २।

(ग) नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। —तत्त्वार्थ अ० ८, सू० ११

जैसे चित्रकार हाथी, घोड़े, सिंह, हिरन, मनुष्य आदि नाना प्रकार के अच्छे-बुरे रूप बनाता है। उसी प्रकार नामकर्म जीव के अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे रूप बनाता है। इसीलिए नामकर्म के लिए चित्रकार की उपमा दी जाती है। नामकर्म का लक्षण यह है—

नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे अथवा शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं।[1]

अपेक्षाभेद से नामकर्म के बयालीस, तिरानवै, एकसौ तीन और सड़सठ भेद हैं।

अब आगे की दो गाथाओं में नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों और आठ प्रत्येकप्रकृतियों के नामों को कहते हैं।

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणा।
संठाणवण्णगंधरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥
पिंडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोयं।
अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

गाथार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायो-

---

१. विचित्र पर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीवं तन्नाम।
जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं ॥
तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥
—स्थानांग २।४।१०५ टीका

गति ये नामकर्म की १४ पिंडप्रकृतियाँ हैं और पराघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात ये आठ प्रत्येकप्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में नामकर्म के अपेक्षाभेद के कारण ब्यालीस तिरानवे आदि भेद होने का संकेत किया गया है। संक्षेप या विस्तार से कहने की अपेक्षा ही इस संख्याभेद का कारण है। इन भेदों में कुछ प्रकृतियाँ अवान्तर भेद वाली हैं और कुछ अवान्तर भेद वाली नहीं हैं। जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद होते हैं—उन्हें पिंडप्रकृति और जिन के अवान्तर भेद नहीं होते हैं उन्हें प्रत्येकप्रकृति कहते हैं। सर्वप्रथम बयालीस भेदों का कथन करने के लिए चौदह पिंडप्रकृतियों और आठ प्रत्येकप्रकृतियों के नाम इन दो गाथाओं में बतलाये हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

पिंडप्रकृतियाँ—(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) अंगोपांग, (५) बंधन, (६) संघातन, (७) संहनन, (८) संस्थान, (९) वर्ण, (१०) गंध, (११) रस, (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी और (१४) विहायोगति।

प्रत्येकप्रकृतियाँ—(१) पराघात, (२) उच्छ्‌वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थंकर, (७) निर्माण और (८) उपघात।[1]

ये सब नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, इसलिए इनका उच्चारण करते समय प्रत्येक के साथ नामकर्म शब्द जोड़ लेना चाहिए। जैसे गतिनामकर्म, जातिनामकर्म, शरीरनामकर्म आदि।

पिंडप्रकृतियों की परिभाषायें इस प्रकार हैं—

---

१. (क) प्रज्ञापना उ० २, पद २३, सूत्र २९३
(ख) समवायांग स्थान ४२

गति—जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की पर्याय प्राप्त करता है, उसे गतिनामकर्म कहते हैं।

जाति—जिस कर्म के उदय से जीव स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियों में क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त कर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसे जातिनामकर्म कहते हैं।

शरीर—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर बनें अथवा औदारिक आदि शरीरों की प्राप्ति हो उसे शरीरनामकर्म कहते हैं।

अंगोपांग—जिस कर्म के उदय से जीव के अंग—हाथ, पैर, सिर आदि और उपांग—अंगुलि आदि रूप में पुद्‌गलों का परिणमन होता है, उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

बन्धन—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक आदि शरीर पुद्‌गलों के साथ नवीन ग्रहण किए जाने वाले पुद्‌गलों का सम्बन्ध हो, उसे बन्धननामकर्म कहते हैं।

संघात—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर पुद्‌गलों पर नवीन ग्रहण किए जा रहे शरीर योग्य पुद्‌गल व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

संहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ दृढ़ होती हैं, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं।

संस्थान—जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार बनें, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं।

वर्ण—जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रंग होते हैं, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं।

गन्ध—जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ-अच्छी या अशुभ-बुरी गन्ध हो, उसे गंधनामकर्म कहते हैं।

रस—जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो उसे रसनामकर्म कहते हैं।

स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं।

आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं।

विहायोगति[1]—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊँट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति कहते हैं।

इन पिंड-प्रकृतियों के अवान्तर भेद-प्रभेदों की संख्या और नामों का संकेत आगे की गाथाओं में यथास्थान किया जा रहा है।

नामकर्म की २८ प्रत्येकप्रकृतियों में से आठ के नाम गाथा में बताये हैं। जिनके लक्षण ग्रन्थ में आगे कहे जा रहे हैं।

नामकर्म के अपेक्षा-भेद से होने वाले बयालीस भेदों में यहाँ बाईस भेद कहे जा चुके हैं। शेष रहे बीस भेदों नाम आगे की दो गाथाओं में कहते हैं।

---

१. विहायोगति में विहायस् विशेषण पुनरुक्ति दोष निवारण हेतु दिया गया है। सिर्फ गति शब्द रखने पर नामकर्म की पहली प्रकृति का नाम भी गति होने से पुनरुक्ति दोष हो सकता था। जीव की चाल अर्थ में गति शब्द को समझने के लिए विहायस् शब्द है, न कि देवगति, मनुष्यगति आदि के अर्थ में।

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥
थावर सुहुम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा वीसं ॥२७॥

गाथार्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति ये त्रसदशक की दस प्रकृतियाँ हैं और स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये स्थावरदशक की दस प्रकृतियाँ हैं। त्रसदशक और स्थावरदशक की उक्त दस-दस प्रकृतियों को जोड़ने से नामकर्म की बीस प्रकृतियाँ होती हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येकप्रकृतियों के अट्ठाइस नामों में से आठ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही बीस प्रकृतियों के नाम त्रसदशक और स्थावरदशक के रूप में इन दो गाथाओं में कहे हैं। त्रस से लेकर यशः-कीर्ति तक के नामों की संख्या दस होने से उनको त्रसदशक और स्थावर से लेकर अयशःकीर्तिपर्यन्त नामों के भी दस भेद होने से उनको स्थावरदशक कहते हैं।

त्रसदशक की दस प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुस्वरनाम, (९) आदेयनाम और (१०) यशःकीर्तिनाम।

स्थावरदशक की प्रकृतियों के दस नाम ये हैं—

(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्तनाम, (४)

साधारणनाम, (५) अस्थिरनाम, (६) अशुभनाम, (७) दुर्भगनाम, (८) दुःस्वरनाम, (९) अनादेयनाम तथा (१०) अयशःकीर्तिनाम ।[1]

इन बीस प्रकृतियों में से त्रसदशक की प्रकृतियों की गणना पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावरदशक की प्रकृतियों की गणना पापप्रकृतियों में की जाती है। इन प्रकृतियों के लक्षण ग्रन्थ में आगे कहे जा रहे हैं।

इस प्रकार नामकर्म के बयालीस भेदों के नामों का कथन करने के अनन्तर ग्रन्थलाघव की दृष्टि से त्रस आदि इन बीस प्रकृतियों की कतिपय संज्ञाओं (संकेतों) को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं।

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तयाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥
वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्क मिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा तयाइ संखाहिं पयडीहिं ॥२९॥

गाथार्थ—प्रारम्भ होने वाली प्रकृति के नाम सहित आगे की संख्या की पूर्णता तक गिनने से त्रसचतुष्क, स्थिरषट्क, अस्थिरषट्क, सूक्ष्मत्रिक, स्थावरचतुष्क, सुभगत्रिक, वर्ण-

---

१. (क) त्रसदशक और स्थावरदशक की प्रकृतियों के नाम के लिए देखें—प्रज्ञापना सूत्र, उ० २, पद २३, सूत्र २९३ का 'तसणामे थावरणामे ·········अजसोकित्तिणामे' का अंश।

(ख) समवायांग, सम० ४२

(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरस-गन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्वं च।
तत्त्वार्थसूत्र ८।१२

चतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, त्रसद्विक, त्रसत्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि संज्ञाएं (विभाषाएं) हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य भी उन-उन संख्यक प्रकृतियों के नाम गिनने से और और संज्ञाएँ समझ लेनी चाहिए।

विशेषार्थ—शास्त्र का अर्थ समझने के लिए विस्तार न करना पड़े और जिज्ञासुओं को संक्षेप में कथन का आशय समझाने के लिए संकेत-पद्धति अपनाई जाती है। इसीलिए यहाँ भी इसी सुगम शैली को अपनाकर कुछ संज्ञाओं का निर्धारण किया गया है। संकेत, विभाषा, संज्ञा ये शब्द समानार्थक हैं।

प्रकृति के नामनिर्देशपूर्वक किये गये दो, तीन, चार आदि संख्याओं के संकेत से उस प्रकृति के नाम-सहित आगे की प्रकृतियों के नामों को गिनकर संख्या की पूर्ति करने से ये संज्ञाएँ बनती हैं। इस प्रकार से बनने वाली कुछ संज्ञाओं का संकेत इन दो गाथाओं में किया गया है, जो इस प्रकार है—

त्रसचतुष्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम।

स्थिरषट्क—(१) स्थिरनाम, (२) शुभनाम, (३) सुभगनाम, (४) सुस्वरनाम, (५) आदेयनाम, (६) यशःकीर्तिनाम।

अस्थिरषट्क—(१) अस्थिरनाम, (२) अशुभनाम, (३) दुर्भगनाम, (४) दुःस्वरनाम, (५) अनादेयनाम, (६) अयशःकीर्तिनाम।

स्थावरचतुष्क—(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्त-नाम, (४) साधारणनाम।

सुभगत्रिक—(१) सुभगनाम, (२) सुस्वरनाम, (३) आदेयनाम।

वर्णचतुष्क—(१) वर्णनाम, (२) गंधनाम, (३) रसनाम, (४) स्पर्शनाम।

अगुरुलघुचतुष्क—(१) अगुरुलघुनाम, (२) उपघातनाम, (३) पराघातनाम, (४) उच्छ्वासनाम।

त्रसद्विक—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम।

त्रसत्रिक—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम।

त्रसषट्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम।

गाथा में आये आदि शब्द का यह अर्थ समझना चाहिए कि कर्म-प्रकृतियों को सरलता से समझने के लिए इसी प्रकार की और दूसरी संज्ञाएँ बना लेनी चाहिए। जैसे—

दुर्भगत्रिक—(१) दुर्भगनाम, (२) दुःस्वरनाम, (३) अनादेयनाम।

स्त्यानर्द्धित्रिक—(१) स्त्यानर्द्धि, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला-प्रचला।

तेईसवीं गाथा में जो अपेक्षा-भेद से नामकर्म के ४२, ९३, १०३ और ६७ भेद होना कहा था। उनमें से बयालीस भेदों के नाम और संकेतों द्वारा संक्षेप में समझने के लिये संज्ञाओं का कथन किया जा चुका है। अपेक्षाभेद से बनने वाले ९३ भेदों को कहने के लिए १४ पिंडप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

गाथार्थ—पूर्व में कही गई नामकर्म की गति आदि चौदह पिण्डप्रकृतियों के क्रमशः चार, पांच, पाँच, तीन, पांच, पाँच, छह, छह, पाँच, दो, पांच, आठ, चार और दो भेद होते हैं। इन सब भेदों को जोड़ने से कुल पैंसठ भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—अपेक्षाभेद से नामकर्म के तेरानवे आदि भेद भी होते हैं। अतः उनको कहने के लिए चौबीसवीं गाथा में कही गई पिंड-

प्रकृतियों के उत्तरभेदों की संख्या इस गाथा में बतलाई है। गाथा में प्रकृतियों के नाम न देकर उत्तरभेदों की संख्या ही कही है। अतः चौबीसवीं गाथा में कही गई प्रकृतियों के नामों के आगे इस गाथा में बताई गई संख्या को क्रमशः इस प्रकार जोड़ना चाहिए।

गतिनाम के ४ भेद, जातिनाम के ५ भेद, शरीरनाम के ५ भेद, अंगोपांगनाम के ३ भेद, बन्धननाम के ५ भेद, संघातननाम के ५ भेद, संहनननाम के ६ भेद, संस्थाननाम के ६ भेद, वर्णनाम के ५ भेद, गन्धनाम के २ भेद, रसनाम के ५ भेद, स्पर्शनाम के ८ भेद, आनुपूर्वी नाम के ४ भेद, विहायोगतिनाम के २ भेद।

इस प्रकार नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के उक्त प्रभेदों को मिलाने से उत्तरभेदों की समस्त संख्या ६५ होती है।

नामकर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ होने के कारण तथा बन्ध आदि की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों की भिन्न संख्या को निम्नलिखित दो गाथाओं में स्पष्ट करते हैं—

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥
इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बन्धे।
बन्धुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

गाथार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों के उक्त भेदों में अट्ठाईस प्रकृतियों को मिलाने से तेरानवे भेद तथा इनमें बन्धन के पन्द्रह भेद जोड़ने से एकसौ तीन भेद तथा पाँच शरीरों में बन्धन तथा संघातन के भेदों को ग्रहण करने और सामान्य से वर्णचतुष्क का ग्रहण किए जाने से बंध, उदय और उदीरणा के सड़सठ भेद समझ लेना चाहिए। बन्ध के समय

सम्यक्त्व व मिश्रमोहनीय का बंध नहीं होने से बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः एक सौ बीस, एकसौ बाईस और एकसौ अट्ठावन प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

विशेषार्थ—अपेक्षा-भेद से नामकर्म के तेरानवे आदि भेद कैसे बनते हैं तथा बन्ध आदि के योग्य कितनी प्रकृतियाँ हैं, यह इन दो गाथाओं में बतलाया है।

पूर्व गाथा में जो नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के ६५ भेद बतलाये हैं, उनमें पराघात आदि आठ और त्रसदशक व स्थावर-दशक की दस-दस प्रकृतियों को जोड़ देने से सत्ता में ९३ प्रकृतियाँ होती हैं। इन ९३ प्रकृतियों में बन्धन नामकर्म के पाँच भेद ग्रहण किए गए हैं किन्तु विस्तार से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद होते हैं। अतः पाँच के स्थान पर पन्द्रह भेदों को जोड़ने पर नामकर्म की सत्ता में एकसौ तीन प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

लेकिन औदारिकादि शरीरों में औदारिकादि रूप बन्धन और औदारिकादि रूप संघातन होते हैं। अतः बन्धननामकर्म के पन्द्रह भेद एवं संघातन नामकर्म के पाँच भेद, सब मिलाकर बीस भेदों को शरीर नामकर्म के पाँच भेदों में शामिल करने और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नामकर्मों के क्रमशः पाँच, दो, पाँच और आठ भेदों को वर्ण चतुष्क में गर्भित करने पर वर्णादि की सोलह तथा बन्धन, संघातन की बीस प्रकृतियों (कुल मिलाकर छत्तीस प्रकृतियों) को नामकर्म की पूर्वोक्त १०३ प्रकृतियों में से घटा देने से आपेक्षिक दृष्टि से नामकर्म की ६७ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं।

बन्ध, उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियों की गणना करते समय नामकर्म की इन सड़सठ प्रकृतियों को ग्रहण करते हैं।

बन्धादि योग्य प्रकृतियों की संख्या

कर्मों की बन्ध-अधिकारिणी प्रकृतियाँ १२०, उदय व उदीरणा-अधिकारिणी प्रकृतियाँ १२२, और सत्ता अधिकारिणी प्रकृतियाँ १५८ हैं।

बन्ध-अधिकारिणी १२० प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। सब मिलाकर ये १२० प्रकृतियाँ होती हैं।

मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियों के बन्ध होने का कारण यह है कि मूल रूप से बन्धयोग्य प्रकृति मिथ्यात्वमोहनीय है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि जीव द्वारा जो मिथ्यात्वमोहनीय का बन्ध किया जाता है, उसके कुछ पुद्‌गलों को जीव अपने सम्यक्त्व गुण के कारण शुद्ध बना लेता है और कुछ पुद्‌गलों को अर्द्ध-शुद्ध। इनमें से शुद्ध पुद्‌गलों को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्धशुद्ध पुद्‌गलों को मिश्र (सम्यक्त्वमिथ्यात्व) मोहनीय कहते हैं। अतएव मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों को कम करने पर २६ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं और १२० प्रकृतियाँ बन्ध-अधिकारिणी मानी जाती हैं।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ प्रकृतियाँ हैं। क्योंकि बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियों में मोहनीयकर्म की जो सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय ये दो प्रकृतियाँ घटा दी गई थीं, उनको मिला देने से १२२ प्रकृतियाँ उदय और उदीरणा की अधिकारिणी होती हैं।

सत्ता की अधिकारिणी १५८ अथवा १४८ कर्मप्रकृतियाँ हैं। सत्ता का अर्थ है विद्यमान रहना। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के सामान्य-

तथा १५८ भेद होते हैं, अतः उन सबकी विद्यमानता बतलाने के लिए १५८ प्रकृतियाँ सत्ता की अधिकारिणी मानी जाती हैं।

सत्ता-अधिकारिणी १५८ कर्मप्रकृतियों की संख्या यह है—ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। इन सबका जोड़ १५८ होता है।

अपेक्षाभेद से सत्ताधिकारिणी १४८ प्रकृतियों के कहने का कारण यह है कि यदि बन्धन नामकर्म के १५ भेदों के बजाय ५ भेद ही ग्रहण किये जायँ तो १५८ में से बन्धन के १० भेद कम कर देने पर १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जायेंगी।

इस प्रकार नामकर्म की पिंडप्रकृतियों की संख्या और बन्धादि में प्रकृतियों की संख्या का कथन करने के बाद अब ३३ से ५१ तक की गाथाओं में नामकर्म की पिंडप्रकृतियों के भेदों के नाम, लक्षण तथा प्रत्येकप्रकृतियों के लक्षण कहते हैं।

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतिय चउपणिंदिजाइओ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पणसरीरा ॥३३॥

गाथार्थ—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनामकर्म के, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातिनामकर्म के और औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीरनामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के नाम व संख्या जो पहले बतला चुके हैं। उसके अनुसार इस गाथा में गति, जाति और शरीरनामकर्म के भेदों के क्रमशः नाम बतलाये हैं।

गतिनामकर्म के भेद व लक्षण

(१) नरकगति (२) तिर्यंचगति (३) मनुष्यगति (४) देवगति।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी पर्याय प्राप्त हो कि जिससे यह नारक है, ऐसा कहा जाए, वह नरकगतिनामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह तिर्यंच है, ऐसा कहा जाए, वह तिर्यंचगतिनामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह मनुष्य है, ऐसा कहा जाय, वह मनुष्यगतिनामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह देव है, ऐसा कहा जाये, वह देवगतिनामकर्म है।

जातिनामकर्म के भेद व लक्षण

(१) एकेन्द्रिय जातिनाम, (२) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (२) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (३) चतुरिन्द्रिय जातिनाम और (५) पंचेन्द्रिय जातिनाम। ये जाति नामकर्म के पांच भेद हैं।

इन्द्रियाँ पाँच हैं। जिनके नाम क्रमशः—(१) स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर) (२) रसनेन्द्रिय (जीभ), (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक), (४) चक्षुरिन्द्रिय (आँख) और (५) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) हैं। इन पाँच इन्द्रियों में से स्पर्शनेन्द्रिय पहली और श्रोत्रेन्द्रिय पाँचवीं इन्द्रिय है। समस्त संसारी जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय तो होती है और उसके अनन्तर क्रमशः रसनेन्द्रिय आदि एक-एक इन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय तक की वृद्धि से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जातिनामकर्म के पाँच भेद होते हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय—स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय प्राप्त हो, उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रियाँ—शरीर और जीभ प्राप्त हों, उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को तीन इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ और नाक प्राप्त हों, उसे त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को चार इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ, नाक और आँख प्राप्त हों, उसे चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव के पाँचों इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान प्राप्त हों, उसे पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

शरीरनामकर्म के भेद व लक्षण

शरीरनामकर्म के पाँच भेद हैं—(१) औदारिकशरीर नामकर्म, (२) वैक्रियशरीर नामकर्म, (३) आहारकशरीर नामकर्म, (४) तैजसशरीर नामकर्म और (५) कार्मणशरीर नामकर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर प्राप्त हो, उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्‌गलों से बना तथा हाड़, मांस, रक्त आदि जिसमें हों, वह औदारिकशरीर कहलाता है।

तीर्थंकरों व गणधरों का शरीर प्रधान पुद्‌गलों से और सर्वसाधारण का शरीर स्थूल, असार पुद्‌गलों से बनता है। यह औदारिक शरीर सभी मनुष्यों, तिर्यंचों का होता है, चाहे वे गर्भ जन्म वाले हों या सम्मूर्च्छिम जन्म वाले हों।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रियशरीर प्राप्त हो, वह वैक्रियशरीर नामकर्म कहलाता है। जिस शरीर से छोटे-बड़े, एक-अनेक, विविध, विचित्र रूप बनाने की शक्ति प्राप्त हो, उसे वैक्रियशरीर कहते हैं।

वैक्रियशरीर दो प्रकार के हैं - औपपातिक, लब्धिप्रत्यय। देव और नारकों का वैक्रियशरीर औपपातिक कहलाता है। अर्थात् उनको उन गतियों में जन्म लेने से वैक्रियशरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय वैक्रियशरीर मनुष्य और तिर्यंचों को होता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच तप आदि के द्वारा प्राप्त शक्तिविशेष से वैक्रियशरीर धारण कर लेते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को आहारकशरीर प्राप्त हो, वह आहारकशरीर नामकर्म है। अन्य क्षेत्र (महाविदेह) में वर्तमान तीर्थंकरों की ऋद्धि-दर्शन, संशय-निवारण करने आदि कारणों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज लब्धिविशेष से जो शरीर धारण करते हैं, उसे आहारकशरीर कहते हैं। यह शरीर अति विशुद्ध, स्फटिक-सा निर्मल, शुभ, व्याघातरहित, अर्थात् न तो स्वयं दूसरे से रुकता है और न दूसरों को रोकने वाला होता है। यह शरीर मनुष्यों को ही प्राप्त होता है। उनमें भी सबको नहीं, केवल चौदह पूर्वधारी मुनि-राजों को प्राप्त होता है। अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दश पूर्वधारी मुनि को किसी विषय में सन्देह हो और वहाँ सर्वज्ञ का सन्निधान न हो, तब औदारिकशरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव समझकर अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा एक हस्त प्रमाण शरीर बनाते हैं। जो शुभ पुद्गलजन्य होने से शुभ, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती होता है। ऐसे शरीर से अन्य क्षेत्र में स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनसे संदेह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। यह कार्य सिर्फ अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को तैजसशरीर प्राप्त हो, उसे तैजसशरीर नामकर्म कहते हैं। तैजस पुद्गलों से बना हुआ, आहार

को पचानेवाला और तेजोलेश्या का साधक शरीर तैजसशरीर कह-लाता है। तेजोलेश्या की तरह शीतलेश्या का हेतु भी यही तैजस-शरीर होता है। कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वारा दूसरों को नुकसान तथा प्रसन्न होकर शीतल लेश्या के द्वारा लाभ पहुँचाता है यह तैजसशरीर के प्रभाव से ही समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म से जीव को कार्मणशरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मणशरीर नामकर्म है। ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मणशरीर कहलाता है। इसी शरीर के कारण जीव नरकादि गति रूप संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाता रहता है।

तैजस और कार्मण शरीर सब संसारी जीवों के होते हैं और आत्मा के साथ उनका अनादि सम्बन्ध है। ये दोनों शरीर लोक में कहीं भी प्रतिघात नहीं पाते हैं, अर्थात् वज्र-जैसी कठोर वस्तु भी इन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती है। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश पा सकती है; जैसे—लोह-पिण्ड में अग्नि।

एक साथ एक संसारी जीव में कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं। पाँच कभी नहीं होते हैं। जब दो होते हैं, तब तैजस और कार्मण, क्योंकि ये दोनों सभी संसारी जीवों के होते हैं। यह स्थिति विग्रहगति में पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरी गति के शरीर को प्राप्त करने के लिए होने वाली गति के अन्तराल में पाई जाती है। क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नहीं होता है। जब तीन होते हैं, तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य-तिर्यंचों में और दूसरा प्रकार देव-नारकों में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस,

कार्मण, औदारिक और आहारक ये पहला विकल्प वैक्रिय-लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारकलब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दशपूर्वधारी मुनियों में होना संभव है। किन्तु वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का प्रयोग एक साथ सम्भव न होने से पाँचों शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते हैं।

अब क्रम-प्राप्त अंगोपांग नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं—

> **बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।**
> **सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥**

गाथार्थ—दो हाथ, दो पैर, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट ये आठ अंग हैं। अंगुली आदि अंग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयव उपांग हैं और शेष अंगोपांग कहलाते हैं। ये अंगादि औदारिकादि प्रथम तीन शरीरों में ही होते हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिण्डप्रकृतियों में से अंगोपांग नामकर्म के भेदों को गाथा में कहा है।

अंगोपांग शब्द से अंग, उपांग और अंगोपांग इन तीन का ग्रहण होता है। इनमें से अंग के क्रमशः आठ भेद हैं—(१—२) दो हाथ, (३—४) दो पैर, (५) एक पीठ, (६) एक सिर, (७) एक छाती और (८) एक पेट। अंगों के साथ संलग्न अंगुली, नाक, कान आदि छोटे-छोटे अवयवों को उपांग और अंगुलियों की रेखाओं तथा पर्वों को अंगोपांग कहते हैं।

---

१. (क) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ४३

(ख) प्रज्ञापना, पद २१

अंगादि के लिए किसी-न-किसी आकृति की आवश्यकता होती है और आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में पाई जाने से औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में ही अंगादि होते है। लेकिन तैजस, कार्मण शरीरों का कोई संस्थान अर्थात् आकार न होने से अंगादि नहीं होते हैं। अंगोपांगनामकर्म के तीन भेद हैं—औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह औदारिक-अंगोपांग नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रियशरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रियअंगोपांग नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारकशरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, उसे आहारक-अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

अपने-अपने शरीर-रूप मे परिणत पुद्गलों मे उन-उनके योग्य अंगोपांग बनते हैं।

अब आगे की गाथा में बन्धन नामकर्म के भेदों को कहते हैं।

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण सम्बन्धं।
जं कुणइ जउसमं तं[1] उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

गाथार्थ—जो कर्म लाख के समान बंधे हुए और बँधने वाले औदारिकादि शरीरों के पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध कराता

---

१. बंधणमुरलाई तणुनामा:—इति पाठान्तरम्।

है—परस्पर मिलाता है, उस कर्म को औदारिक आदि बन्धन-नामकर्म जानो।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिपकने पदार्थों से चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं, उसी प्रकार बन्धन नामकर्म भी शरीर नामकर्म के बल से पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण हो रहे औदारिक शरीरों के पुद्‌गलों को बाँध देता है—जोड़ देता है। यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीराकार परिणत पुद्‌गलों में वैसी ही अस्थिरता हो जाती है, जैसी हवा में उड़ते सत्तू के कणों में होती है।

बन्धन दो प्रकार का होता है—सर्वबन्ध, देशबन्ध। नवीन पैदा होने वाले शरीरों के प्रारम्भ काल में सर्वबन्ध होता है और बाद में वे शरीर जब तक धारण किये हुए रहते हैं, देशबन्ध होता है। अर्थात् जो शरीर नवीन उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु उनमें जब तक वे रहते हैं, देशबन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में उत्पत्ति के समय सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है। किन्तु तैजस और कार्मण शरीर संसारी जीवों के सदैव रहते हैं, उनकी उत्पत्ति नवीन नहीं होती है अतः उनमें देशबन्ध होता है।

बन्धननामकर्म के पाँच भेद होते हैं—

(१) औदारिकशरीर-बन्धननाम, (२) वैक्रियशरीर-बन्धननाम (३) आहारकशरीर-बन्धननाम, (४) तैजसशरीर-बन्धननाम। (५) कार्मणशरीर-बन्धननाम। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत—पहले ग्रहण किये हुए औदारिक शरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण—वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्‌गलों का आपस में मेल हो, वह औदारिकशरीर-बन्धन नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रियशरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रियशरीर पुद्‌गलों का आपस में मेल हो, वह वैक्रिय-शरीर-बन्धन नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारकशरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण आहारकशरीर पुद्‌गलों का आपस में मेल हो, वह आहारकशरीर-बन्धन नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजसशरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण तैजसशरीर पुद्‌गलों का आपस में मेल हो, वह तैजसशरीर-बन्धन नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत कार्मणशरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण कार्मणशरीर पुद्‌गलों का आपस में मेल हो, वह कार्मण-शरीर-बन्धन नामकर्म है।

अपेक्षाभेद से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद भी कहे हैं, उनके नाम और बनने के कारण का कथन गाथा ३७ में किया जा रहा है।

अब संघातन नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं।

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघाय बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

गाथार्थ—दन्ताली द्वारा जैसे तृणसमूह एकत्रित होता है, वैसे ही जो कर्म औदारिकादि शरीर पुद्‌गलों को एकत्रित करता है, उसे संघातन नामकर्म कहते हैं। इसके भी बन्धन नामकर्म की तरह औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम की अपेक्षा से पाँच भेद होते हैं।

विशेषार्थ—संघातन का अर्थ है सामीप्य होना, सान्निध्य होना। पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्‌गलों का परस्पर बन्धन तभी सम्भव

है, जब गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का पारस्परिक सामीप्य हो अर्थात् दोनों एक दूसरे के निकट होंगे, तभी बन्धन होना सम्भव है। अतः शरीर के योग्य पुद्गलों को सन्निहित करना, एक दूसरे के पास व्यवस्थित रूप से स्थापित करना, जिससे उन पुद्गलों की परस्पर में प्रदेशों के अनुप्रवेश से एकरूपता प्राप्त हो सके, यह संघातन नामकर्म का कार्य है।

जैसे दन्ताली से इधर-उधर बिखरी घास इकट्ठी की जाती है, जिससे उस घास का गट्ठा बँध जाता है, इसी प्रकार संघातन नामकर्म शरीरयोग्य पुद्गलों को समीप लाता है और बन्धन नामकर्म उन्हें उन-उन शरीरों से सम्बद्ध करता है।

औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम के आधार से जैसे बन्धन नामकर्म के पाँच भेद हैं, वैसे ही संघातन नामकर्म के भी निम्नलिखित पाँच भेद होते हैं—

(१) औदारिक-संघातन नामकर्म, (२) वैक्रिय-संघातन नामकर्म, (३) आहारक-संघातन नामकर्म, (४) तैजस-संघातन नामकर्म और (५) कार्मण-संघातन नामकर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक-संघातननाम है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रियशरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय-संघातननाम है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारकशरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक-संघातननाम है।

(४) जिस कर्म के उदय से तैजसशरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस-संघातननाम है।

(५) जिस कर्म के उदय से कार्मणशरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह **कार्मण-संघातननाम** है।

बन्धन नामकर्म के पाँच भेद बतलाते समय यह कहा था कि इसके पन्द्रह भेद भी होते हैं। अतः अब उक्त पन्द्रह भेद कैसे बनते हैं और उनके क्या नाम हैं, यह बतलाते हैं।

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्तणा।
नव बन्धणाणिइयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

गाथार्थ—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों का अपने नामवाले और तैजस व कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ने से बन्धननामकर्म के नौ भेद तथा तैजस-कार्मण को संयुक्त रूप से उनके साथ जोड़ने से और तीन भेद तथा तैजस व कार्मण को अपने नाम वाले व अन्य से संयोग करने पर तीन भेद होते हैं। इन भेदों को मिलाने से बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—बन्धननामकर्म के मूल पाँच भेदों के नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं लेकिन अपेक्षा दृष्टि से बनने वाले बन्धननामकर्म के पन्द्रह भेदों के नाम और उनके बनने की विधि इस गाथा में बतलाई गई है कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरों का अपने-अपने नाम वाले शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से तीन भंग बनते हैं। जैसे औदारिक-औदारिक आदि तथा उक्त औदारिक, वैक्रिय, आहारक का तैजस शरीर के साथ संयोग करने से और तीन भंग हो जाते हैं; जैसे—औदारिक-तैजस आदि। इसी प्रकार उक्त औदारिक आदि तीनों शरीरों में से प्रत्येक का कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ संयोग करने से औदारिक-कार्मण आदि तीन भंग बनते हैं।

इस प्रकार औदारिक आदि तीन शरीरों में से प्रत्येक के मूल शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से, प्रत्येक का तैजसशरीर-पुद्गलों के साथ संयोग होने से तथा प्रत्येक का कार्मणशरीर पुद्गलों के साथ संयोग होने से बनने वाले तीन-तीन भागों को जोड़ने से नौ भेद बनते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में से प्रत्येक का तैजस-कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ युगपत् संयोग करने से तीन भेद बनते हैं, जैसे औदारिक-तैजस-कार्मण आदि तथा तैजस, कार्मण में से प्रत्येक का स्वकीय और अन्य शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से और तीन भंग बनते हैं। जैसे तैजस-तैजसबन्धन, तैजस-कार्मणबन्धन, कार्मण-कार्मणबन्धन।

इस प्रकार पूर्वोक्त नौ, तीन और तीन इन कुल भंगों को जोड़ने से बन्धननामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— (१) औदारिक-औदारिकबन्धननाम, (२) औदारिक-तैजस-बन्धननाम, (३) औदारिक-कार्मणबन्धननाम, (४) वैक्रिय-वैक्रियबन्धन-नाम, (५) वैक्रिय-तैजसबन्धननाम, (६) वैक्रिय-कार्मणबन्धननाम, (७) आहारक-आहारकबन्धननाम, (८) आहारक-तैजसबन्धननाम, (९) आहारक-कार्मणबन्धननाम, (१०) औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धननाम, (११) वैक्रिय-तैजस-कार्मणबन्धननाम, (१२) आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धननाम, (१३) तैजस-तैजसबन्धननाम, (१४) तैजस-कार्मणबन्धन-नाम और (१५) कार्मण-कार्मणबन्धननाम।[1] इनका अर्थ यह है कि—

१. प्रकारान्तर से बन्धननामकर्म के पन्द्रह भेदों को गिनने की सरल रीति।

मूल शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-औदारिक, वैक्रिय-वैक्रिय, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिकशरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिकबन्धननामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-तैजसबन्धननामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-कार्मणबन्धननामकर्म है।

इसी प्रकार वैक्रिय-वैक्रियबन्धननामकर्म आदि अन्य सभी का अर्थ समझ लेना चाहिए।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, अर्थात् औदारिक के साथ औदारिकशरीर के पुद्गलों का ही सम्बन्ध हो सकता है; वैक्रिय, आहारक शरीर के पुद्गलों का नहीं। इसी प्रकार वैक्रिय, आहारक शरीरों के लिए भी समझ लेना चाहिए। चूंकि ये परस्पर विरुद्ध गुणधर्मी हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध कराने वाले नामकर्म भी नहीं हैं।

अब संहनन नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं--

तैजस शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-तैजस, वैक्रिय-तैजस, आहारक-तैजस।

कार्मण शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-कार्मण, वैक्रिय-कार्मण, आहारक-कार्मण, तैजस-कार्मण।

तैजस-कार्मण शरीर का युगपत संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण।

[पूरा नाम कहने के लिए प्रत्येक के साथ बन्धननामकर्म जोड़ दें।]

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह य रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥
कीलिअ छेवट्ठं इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबन्धो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

गाथार्थ—हड्डियों की रचना-विशेष को संहनन कहते हैं। इसके वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त ये छह भेद हैं। इनमें ऋषभ का अर्थ पट्ट-वेष्टन, वज्र का अर्थ कील और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबन्ध समझना चाहिये।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों के वर्णन में क्रमप्राप्त संहनननामकर्म के भेदों का इन दो गाथाओं में कथन किया गया है।

जिस नामकर्म के उदय से हड्डियों का आपस में जुड़ जाना, अर्थात् रचना-विशेष होती है, उसे संहनननामकर्म कहते हैं। औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियाँ नहीं होने से औदारिक शरीर में ही इसका उदय होता है। संहनन नामकर्म के छह भेद और उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्द्धनाराच, (५) कीलिका, (६) छेवट्ठ।

प्रत्येक के साथ संहनननामकर्म जोड़ लेना चाहिए।

(१) वज्र, ऋषभ और नाराच, इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न वज्रऋषभनाराच पद है। इनमें वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ वेष्टन—पट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबन्ध है। जिस संहनन में दोनों तरफ से मर्कट बन्ध से बँधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेठन (पट्ट) हो और इन तीन हड्डियों को भेदने

वाली हड्डी की कीली लगी हुई हो, उसे वज्रऋषभनाराच कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की ऐसी रचना-विशेष हो, उसे वज्रऋषभनाराच-संहनननामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना-विशेष में दोनों तरफ हड्डी का मर्कटबन्ध हो, तीसरी हड्डी का वेठन भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाली हड्डी की कीली न हो, उसे ऋषभनाराच-संहनननामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कटबन्ध हो, लेकिन वेठन और कील न हो, उसे नाराच-संहनन-नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक ओर मर्कट बन्ध और दूसरी ओर कील हो उसे अर्धनाराचसंहनननामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबन्ध और वेठन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुड़ी हों, उसे कीलिका-संहनन-नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबन्ध, वेठन और कील न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हों, उसे छेवट्ठ-संह-ननामकर्म कहते हैं। छेवट्ठ को सेवार्त अथवा छेदवृत्त भी कहते हैं।

अब संस्थान और वर्ण नामकर्म के भेदों का वर्णन करते हैं—

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

गाथार्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन और

हुण्ड—ये संस्थाननामकर्म के और कृष्ण, नील, लोहित,
हारिद्र पीत एवं श्वेत—ये वर्ण नामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में संस्थान और वर्णनामकर्म के भेदों के नाम कहे गये हैं। उनमें से पहले संस्थान नामकर्म और बाद में वर्णनामकर्म के भेदों का निरूपण करते हैं।

शरीर के आकार को संस्थान[1] कहते हैं। जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति हो, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं। मनुष्यादि में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियों में विविधताएँ दिखती हैं, उनका कारण संस्थाननामकर्म है। संस्थाननामकर्म के छह भेदों के नाम क्रमशः ये हैं—

(१) समचतुरस्र-संस्थाननामकर्म, (२) न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान नामकर्म, (३) सादि-संस्थाननामकर्म, (४) कुब्ज-संस्थाननामकर्म (५) वामन-संस्थाननामकर्म, और (६) हुंड-संस्थाननामकर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) सम, चतुः, अस्र, इन तीन शब्दों से निष्पन्न समचतुरस्र पद में सम का अर्थ समान, चतुः का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। अर्थात् पालथी मारकर बैठने में जिस शरीर के चारों कोण समान हों; यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कंधे और बायें जानु का अन्तर, बायें कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों, वह समचतुरस्र-संस्थान नामकर्म कहलाता है।

---

१. संहनन एवं संस्थान के चित्र परिशिष्ट में देखिए।

(२) जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो, अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण—मोटे हों और नाभि से नीचे के अवयव हीन—पतले हों, उसे न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थाननामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव हीन—पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण—मोटे हों, वह सादि-संस्थाननामकर्म है। न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान से विपरीत शरीर-अवयवों की आकृति इस संस्थान वालों की होती है।

(४) जिस कर्म के उदय से शरीर कुबड़ा हो, वह कुब्ज-संस्थान नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से शरीर वामन (बौना) हो, उसे वामन-संस्थाननामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल हों—यथायोग्य प्रमाण युक्त न हों, उसे हुंड-संस्थान नामकर्म कहते हैं।

संस्थान नामकर्म के भेदों का निरूपण करने के बाद वर्ण नामकर्म के भेद और लक्षण बतलाते हैं।

वर्ण नामकर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि वर्ण होते हैं। वर्ण नामकर्म के पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) कृष्ण, (२) नील, (३) लोहित, (४) हारिद्र, और (५) सित। इनके लक्षण यह हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले-जैसा काला हो, वह कृष्णवर्णनामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख-जैसा हरा हो, वह नीलवर्णनामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्दूर जैसा लाल हो, वह लोहितवर्णनामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी-जैसा पीला हो, वह हरिद्रवर्ण नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख-जैसा सफेद हो, उसे सितवर्णनामकर्म कहते हैं।

अब आगे की गाथा में गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं।

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

गाथार्थ—सुरभि-सुगन्ध और दुरभि-दुर्गन्ध ये दो गन्धनाम-कर्म के भेद हैं। तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर ये रस-नामकर्म के पाँच भेद हैं तथा स्पर्शनामकर्म के गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये आठ भेद हैं।

विशेषार्थ—वर्णनामकर्म के पाँच भेदों का कथन करने के पश्चात अब शेष रहे गन्ध, रस, स्पर्श नामकर्म के भेद और उनके लक्षण क्रमशः यहाँ कहते हैं।

गन्धनामकर्म के दो भेद हैं—(१) सुरभिगन्ध, (२) दुरभिगन्ध नामकर्म।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों-जैसी सुगन्धि हो, उसे सुरभिगन्धनामकर्म कहते हैं।

तीर्थंकर आदि के शरीर सुगन्धित होते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में लहसुन, सड़े-गले पदार्थों जैसी गन्ध हो, वह दुरभिगन्धनामकर्म है।

रसनामकर्म के पाँच भेद और उनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) तिक्तरस, (२) कटुरस, (३) कषायरस, (४) अम्लरस, (५) मधुररस।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, उसे तिक्तरसनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस चिरायता, नीम जैसा कटु हो, उसे कटुरसनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस आँवला, बहेड़ा जैसा कसैला हो, वह कषायरसनामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नीबू, इमली जैसे खट्टे पदार्थों जैसा हो, वह अम्लरसनामकर्म कहा जाता है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस मिश्री आदि मीठे पदार्थों जैसा हो, उसे मधुर-रसनामकर्म कहते हैं।

स्पर्शनामकर्म के आठ भेद और उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) गुरु, (२) लघु, (३) मृदु, (४) खर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष। प्रत्येक के साथ स्पर्श नामकर्म जोड़ लेना चाहिए।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो, वह गुरुस्पर्शनामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई जैसा हल्का हो, वह लघुस्पर्शनामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल हो, वह मृदुस्पर्शनामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा खुरदरा, कर्कश हो, वह खरस्पर्शनामकर्म है। इसे कर्कशस्पर्शनामकर्म भी कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बर्फ जैसा ठण्डा हो, वह शीतस्पर्शनामकर्म है।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग जैसा उष्ण हो, वह उष्णस्पर्शनामकर्म है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो, वह स्निग्धस्पर्शनामकर्म है।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बालू जैसा रूखा हो, वह रूक्षस्पर्शनामकर्म है।

अब आगे की गाथा में वर्णचतुष्क के इन बीस भेदों का शुभ और अशुभ इन दो भेदों में वर्गीकरण करके उनके नाम बतलाते हैं।

नीलं कसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

गाथार्थ—वर्णचतुष्क की पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों में से नील, कृष्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत ये नौ प्रकृतियाँ अशुभ हैं और शेष रही ग्यारह प्रकृतियाँ शुभ हैं।

विशेषार्थ—वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श नामकर्म के बीस भेदों में से अशुभ और शुभ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

अशुभ वर्णनामकर्म—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण।
अशुभ गन्धनामकर्म—दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध)।
अशुभ रसनामकर्म—तिक्तरस, कटुरस।

अशुभ स्पर्शनामकर्म—गुरुस्पर्श, खर-कर्कशस्पर्श, रूक्षस्पर्श, शीत-स्पर्श।

उक्त दो वर्ण, एक गन्ध, दो रस और चार स्पर्श के नाम मिलाने से वर्णचतुष्क की नौ अशुभ प्रकृतियाँ समझनी चाहिए तथा शेष रही ग्यारह शुभ प्रकृतियों की संख्या और नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

शुभ वर्णनामकर्म—सितवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण।

शुभ गन्धनामकर्म—सुरभिगन्ध (सुगन्ध)।

शुभ रसनामकर्म—कषायरस, आम्लरस, मधुररस।

शुभ स्पर्शनामकर्म—लघुस्पर्श, मृदुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श।

अब आगे की गाथा में आनुपूर्वी नामकर्म के भेद, नरकद्विक आदि संज्ञाएं और विहायोगति नामकर्म के भेदों को कहते हैं।

चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं।

पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥

गाथार्थ—गतिनामकर्म के चार भेदों के समान आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद होते हैं और आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में होता है। गति और आनुपूर्वी को मिलाने से गतिद्विक और इस द्विक में आयु को जोड़ने से गति-त्रिक संज्ञाएँ बनती हैं। बैल और ऊँट की चाल की तरह शुभ और अशुभ के भेद से, विहायोगति नामकर्म के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में से शेष रही आनुपूर्वी और विहायोगति प्रकृतियों के भेदों और नामकर्म के भेदों से बनने वाली नरकद्विक आदि संज्ञाओं का कथन गाथा में किया गया है।

आनुपूर्वी नामकर्म के भेद और स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी,
(३) तिर्यंचानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गमन कर उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

गति करने की शक्ति जीव और पुद्गल में है। अतः निमित्त मिलने पर ये दोनों गतिक्रिया से परिणत होकर गति करने लगते हैं। किन्तु यहाँ मुख्यतया जीव की गति के बारे में विचार किया जा रहा है।

जीव की स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव की यह गति दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते समय जीव को किसी प्रकार का नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है, तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है और उसी के वेग से दूसरे प्रयत्न के बिना धनुष से छूटे बाण के समान सीधा अपने नवीन स्थान पर पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र—घुमाव वाली होती है। इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है। क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही कार्य करता है, जहाँ से जीव को घूमना पड़े। इन दोनों प्रकार की गतियों में मुक्त जीव की गति ऋजुगति ही होती है और संसारी जीव की ऋजु और वक्र—दोनों प्रकार की गति होती है।

इस भव-सम्बन्धी शरीर को छोड़कर भवान्तर सम्बन्धी शरीर को धारण करने के लिए जब संसारी जीव की गति होती है, यानी विग्रह-गति में रहा हुआ जीव गति करता है तो आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के

अनुसार गति करता हुआ उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है। इसमें आनुपूर्वी नामकर्म कारण है। जो समश्रेणी से अपने उत्पत्तिस्थान के प्रति जाने वाले संसारी जीव को उसके विश्रेणी पतित उत्पत्तिस्थान पर पहुँचा देता है। यदि जीव का उत्पत्तिस्थान समश्रेणी में हो तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता है। वक्रगति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति में नहीं होता है।

इसी सन्दर्भ में प्रयोग में आने वाली गतिद्विक, गतित्रिक आदि संज्ञाओं के संकेत का अर्थ यह है कि जहाँ गतिद्विक ऐसा संकेत हो, वहाँ गति और आनुपूर्वी नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ लेना चाहिए और जहाँ गतित्रिक संकेत हो, वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीन प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिए। सामान्य से ये संज्ञाएँ कही गई हैं। विशेष से संज्ञाओं को इस प्रकार समझना चाहिए; जैसे—'नरकद्विक' में नरकगति और नरकानुपूर्वी का ग्रहण होगा। यदि नरकत्रिक संज्ञा का संकेत हो तो उसमें नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु का ग्रहण होगा। इसी प्रकार तिर्यंचद्विक, तिर्यंचत्रिक, मनुष्यद्विक, मनुष्यत्रिक, देवद्विक, देवत्रिक संज्ञाओं के लिए समझ लेना चाहिए। अपने-अपने नामवाली गति, आनुपूर्वी को ग्रहण करने से द्विक, और आयु को ग्रहण करने पर त्रिक संज्ञाएं बनती हैं।

विहायोगति नामकर्म के भेद और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) शुभविहायोगति, (२) अशुभविहायोगति।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल की चाल की तरह शुभ हो, वह शुभविहायोगति नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊंट, गधे आदि की चाल की तरह अशुभ हो, वह अशुभविहायोगति नामकर्म है।

इस प्रकार पिण्डप्रकृतियों का कथन करने के बाद अब प्रत्येकप्रकृतियों का वर्णन करते हैं।

परघाउदया पाणी परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

गाथार्थ—पराघात नामक कर्म के उदय से जीव दूसरे बलवानों के लिए अजेय होता है और उच्छ्‌वास नामकर्म के उदय से उच्छ्‌वास लब्धियुक्त होता है।

विशेषार्थ—नामकर्म की जो अप्रतिपक्षा आठ प्रत्येकप्रकृतियाँ हैं। उनमें से पराघात और उच्छ्‌वास प्रकृतियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

जिस कर्म के उदय से जीव बड़े-बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो, वह पराघातनामकर्म है। अर्थात् पराघातनामकर्म का उदय होने पर जीव कमजोरों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े बलवानों, बुद्धिमानों, विद्वानों और विरोधियों की दृष्टि में भी अजेय दिखता है, उसके प्रभाव से वे पराभूत हो जाते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्‌वास लब्धियुक्त होता है, उसे उच्छ्‌वासनामकर्म कहते हैं। शरीर के बाहर की हवा को नाक द्वारा अन्दर खींचना श्वास है और शरीर के अन्दर की हवा को नाक द्वारा बाहर छोड़ना उच्छ्‌वास कहलाता है। इन दोनों कार्यों को करने की शक्ति जीव को उच्छ्‌वास नामकर्म से प्राप्त होती है।

अब आगे की दो गाथाओं में आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण कहते हैं।

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

गाथार्थ—आतप नामकर्म के उदय से जीवों का अंग तापयुक्त होता है। इसका उदय सूर्यमण्डल के पार्थिव शरीर में होता है, किन्तु अग्निकाय के जीवों को नहीं होता। उनके तो उष्णस्पर्श और लोहितवर्ण नामकर्म का उदय होता है। साधु और देवों के उत्तर वैक्रिय शरीर एवं चन्द्र, तारा आदि ज्योतिष्कों और जुगनू के प्रकाश की तरह उद्योत नामकर्म के उदय से जीवों का शरीर अनुष्ण—शीत प्रकाशरूप उद्योत करता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण तथा उनके स्वामी और आतप व उष्ण स्पर्श नामकर्म के अन्तर को स्पष्ट किया है।

(जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं।)

आतप नामकर्म का उदय वाला स्वयं तो उष्णतारहित होता है, परन्तु प्रकाश, प्रभा, उष्णतासहित होती है। आतप नामकर्म का उदय सूर्यबिम्ब के बाहर स्थित पृथ्वीकाय के जीवों के होता है। इन जीवों के सिवाय सूर्यमण्डल के अन्य जीवों के आतप नामकर्म का उदय नहीं होता है।

आतप नामकर्म का उदय अग्निकाय के जीवों को नहीं होता है; क्योंकि आतप नामकर्म का उदय उन्हीं जीवों के होता है, जिनका शरीर स्वयं तो ठण्डा हो और उष्ण प्रकाश करते हैं। लेकिन अग्निकाय के जीवों का शरीर और उनका प्रकाश भी उष्णस्पर्श और लोहितवर्णनाकर्म का उदय होने से उष्ण होता है।

सारांश यह है कि आतपनामकर्म का उदय जिन जीवों के होता है, उनका शरीर स्वयं तो ठण्डा है, लेकिन प्रभा ही उष्ण होती है और अग्निकाय के जीवों का शरीर भी उष्णस्पर्श एवं प्रकाश भी उष्ण-स्पर्श वाला होता है। आतपनामकर्म और उष्णस्पर्शनामकर्म वाले जीवों में यही अन्तर है।

अब उद्योतनामकर्म की व्याख्या करते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है, उसे उद्योतनामकर्म कहते हैं।

लब्धि-धारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तथा देव जब मूल शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, वह इसी उद्योतनामकर्म के उदय से समझना चाहिए। चन्द्र, नक्षत्र और तारा मण्डलों के पृथ्वीकाय के जीवों के शरीर उद्योतनामकर्म से युक्त होने के कारण शीतल प्रकाश फैलाते हैं। इसी प्रकार जुगनू, रत्न एवं अन्य प्रकाश फैलाने वाली औषधियों में भी इसी उद्योतनामकर्म का उदय समझना चाहिए।

अब आगे की गाथा में अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्म के लक्षण कहते हैं।

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

गाथार्थ—अगुरुलघु कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो भारी और न हल्का होता है। तीर्थंकर नामकर्म के उदय से जीव त्रिभुवन का भी पूज्य होता है। इसका उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात होता है।

विशेषार्थ—अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्मों का स्वरूप गाथा में समझाया गया है।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्का और भारी न होकर अगुरुलघु परिणाम वाला होता है, उसे अगुरुलघुनामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघुनामकर्म के कारण ही जीव को स्वयं अपना शरीर इतना भारी मालूम नहीं पड़ता है कि उसे संभालना कठिन हो जाए और न इतना हल्का ही प्रतीत होता है कि आक की रुई के समान हवा में उड़ने से भी नहीं बचाया जा सके। अर्थात् जीव को स्वयं का शरीर वजन में भारी या हल्का प्रतीत न होकर अगुरुलघुनामकर्म के उदय से अगुरुलघु परिणाम वाला प्रतीत होता है।

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है, उसे तीर्थंकरनामकर्म कहते हैं।

तीर्थंकरनामकर्म का उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होता है। इस कर्म के कारण ही वह त्रैलोक्यपूज्य और उसे समवसरणरूप बाह्य वैभव प्राप्त होता है। यह वैभव सभी केवलज्ञानियों को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उन्हें मिलता है जिन्होंने तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध किया हो। तीर्थंकर पद में विराजमान केवलज्ञानी अधिकारयुक्त वाणी में उस मार्ग को दिखाते हैं, जिसका आचरण कर स्वयं ने इस कृतकृत्य दशा को प्राप्त किया है। धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, जिसको श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी रूप चतुर्विध संघ भी कहते हैं।

संसार के बड़े-से-बड़े शक्तिशाली देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि तक उनकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं और उनकी वाणी को सुनने का अवसर प्राप्त करना अपना अहोभाग्य मानते हैं।

अब आगे की गाथा में निर्माण और उपघात नामकर्म का स्वरूप कहते हैं।

अङ्गोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥

गाथार्थ—निर्माणनामकर्म सूत्रधार के समान शरीरों के अंगों और उपांगों का यथायोग्य प्रदेशों में व्यवस्थापन करता है। उपघातनामकर्म के कारण जीव अपने शरीर के अवयवभूत लंबिका यानी छठी अंगुली आदि से क्लेश पाता है।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से शरीर में अंग-उपांग अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं, उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं।

निर्माण का अर्थ है व्यवस्थित रूप में रचना होना। जैसे चित्रकार या शिल्पी चित्र या मूर्ति में हाथ-पैर आदि अवयवों को यथास्थान चिन्हित करता या बनाता है, वैसे ही निर्माणनामकर्म शरीर के अवयवों का नियमन करता है। यदि यह कर्म न हो तो अंगोपांगनामकर्म के उदय से बने हुए अंग-उपांगों—हाथ, पैर, आँख, कान, आदि का यथास्थान नियमन नहीं हो सकता है। अर्थात् निर्माणनामकर्म शारीरिक अवयवों का उन-उनके स्थान पर होने का नियमन करता है और इसके कारण वे अंग-उपांग आदि अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित रीति से स्थापित होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवों—प्रतिजिह्वा (पड़जीभ), चौरदन्त (ओठ के बाहर निकले हुए दाँत), लंबिका (छठी उंगली) आदि से क्लेश पाता है, उसे उपघातनामकर्म कहते हैं।

शरीर में अंग और उपांगों के यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित होने पर भी किसी-किसी जीव के शरीर में अवयवभूत अंग-उपांग ऐसे दिखते हैं, जो उपयोगी कार्य में सहकारी न होकर जीव को क्लेशोत्पादक बन जाते हैं। इनका क्लेशोत्पादक बनने का कारण उपघातनामकर्म है।

इस प्रकार अप्रतिपक्षा आठ प्रत्येकप्रकृतियों के स्वरूप का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा में, सप्रतिपक्षा बीस प्रकृतियों में से त्रस, बादर और पर्याप्त नामकर्मों का स्वरूप कहते हैं।

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४९॥

गाथार्थ—त्रसनामकर्म के उदय से जीव दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले, बादरनामकर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल और पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों सहित होते हैं। पर्याप्त जीव लब्धि और करण के भेद से दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसदशक की प्रकृतियों में से त्रस, बादर और पर्याप्त प्रकृतियों का स्वरूप समझाया है।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, उसे त्रस-नामकर्म कहते हैं।

त्रस जीवों के चार भेद हैं—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय। त्रस जीव गर्मी-सर्दी से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाने में समर्थ होते हैं।

यद्यपि तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय है, लेकिन उनमें त्रस की-सी गति होने के कारण गति-सादृश्य देखकर उन्हें भी त्रस कहा जाता है। अर्थात् त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नामकर्म के उदय वाले द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव लब्धित्रस हैं और मुख्य रूप से ये ही त्रस कह-

लाते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय होता है और वे स्थावर ही हैं। लेकिन त्रस जीवों के समान गतिशील होने से वे गतित्रस कहलाते हैं। ये उपचार से त्रस कहे जाते हैं।

त्रस जीवों में से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय त्रस मनरहित होते हैं और पंचेन्द्रियों में से कई प्राणी मनसहित और कई मनरहित होते हैं। किन्तु तेजस्कायिक और वायुकायिक त्रस तो मनरहित ही होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो, उसे बादरनामकर्म कहते हैं।

'जिसे आँख देख सके', यह बादर का अर्थ नहीं है, क्योंकि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आँखों से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट करता है, जिससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

बादर नामकर्म जीवविपाकिनी प्रकृति है। यह प्रकृति शरीर के पुद्गलों के माध्यम से जीव में बादर परिणाम को उत्पन्न करती है, जिससे वे दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय रूप में भी एकत्रित हो जायें तो भी वे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

बादरनामकर्म के जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्गलों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का कारण यह है कि जीव-विपाकिनी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है। जैसे क्रोध के जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्रेक—भौंह का टेढ़ा होना, आँखों का लाल होना, ओठों की फड़फड़ाहट इत्यादि

परिणामों द्वारा प्रकट रूप में दिखलाई देता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिए बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्तनामकर्म है।

जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनका आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है।

पर्याप्ति के छह भेद हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति, (६) मनपर्याप्ति।

उक्त छह पर्याप्तियों में अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीव के चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के उक्त आहार आदि चार पर्याप्तियों के साथ भाषा-पर्याप्ति के मिलाने से पाँच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहारादि मन पर्यन्त छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

इहभव सम्बन्धी शरीर का परित्याग करने के बाद परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिए जीव उत्पत्तिस्थान में पहुँचकर कार्मण शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है, उनके आहारपर्याप्ति आदि रूप छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् प्रथम समय में ग्रहण किये हुए पुद्गलों के छह भागों में से एक-एक भाग लेकर प्रत्येक पर्याप्ति का बनना प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु उनकी

पूर्णता क्रमशः होती है। अर्थात् आहार के बाद शरीर, शरीर के बाद इन्द्रिय आदि। इस प्रकार मनपर्याप्ति पर्यन्त पर्याप्तियों का क्रम समझना चाहिए। इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जैसे छह कातने वाली स्त्रियों ने एक साथ रुई कातना प्रारम्भ किया, किन्तु उनमें से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और बारीक कातने वाली देर से पूरा करती है। इसी प्रकार पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु पूर्णता अनुक्रम से होती है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों में पर्याप्तियाँ होती हैं। उनमें इनकी पूर्णता का क्रम निम्न प्रकार समझना चाहिए—

औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी, इसके बाद तीसरी। इसी प्रकार चौथी, पाँचवीं और छठी प्रत्येक क्रमशः अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूरी कर लेते हैं और इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और इसके बाद तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से एक-एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु देव पाँचवीं और छठी इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

आहार आदि छहों पर्याप्तियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जिस शक्ति से जीव बाह्य आहार पुद्गलों को ग्रहण करके खलभाग, रसभाग में परिणमावे ऐसी शक्ति-विशेष की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

(२) जिस शक्ति से जीव रस के रूप में बदल दिये गये आहार को सात धातुओं के रूप में परिणमाता है, उसकी पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

शरीर में विद्यमान सात धातुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) रस, (२), रक्त, (३) मांस, (४) मेद (चर्बी), (५) हड्डी (६) मज्जा और (७) वीर्य। इन सात धातुओं में से एक के बाद दूसरी, दूसरी से तीसरी धातु वीर्य-पर्यन्त बनती है। इन सात धातुओं के अलावा शरीर में निम्नलिखित सात उपधातुएं होती हैं—

(१) वात, (२) पित्त, (३) श्लेष्म (कफ), (४) शिरा, (५) स्नायु, (६) चर्म और (७) जठराग्नि।

(३) जिस शक्ति से आत्मा धातुओं के रूप में परिणत आहार को स्पर्शन आदि इन्द्रिय रूप परिणमावे। उसकी पूर्णता को इन्द्रिय-पर्याप्ति कहते हैं।

(४) जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप परिणत करके और उसका सार ग्रहण करके उन्हें वापस छोड़ता है, उस शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति कहते हैं।

(५) जिस शक्ति से जीव भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषारूप परिणमावे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़े, उसकी पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मनरूप परिणमन करे और उसकी शक्ति-विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े, उसकी पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं।

आहारपर्याप्ति और शरीरपर्याप्ति में जो आहारपर्याप्ति के द्वारा

बनने के बाद भी शरीरपर्याप्ति द्वारा रस बनने वाले रस की शुरुआत का कथन है, उसका आशय यह है कि आहारपर्याप्ति द्वारा रस बनने की अपेक्षा शरीरपर्याप्ति द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है और यही रस शरीर को बनाने में उपयोगी होता है।

आहार, शरीर और इन्द्रियों को बनाने में जो पुद्गल उपयोगी हैं उनकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति के पुद्गल भिन्न प्रकार के होते हैं।

पर्याप्त जीवों के दो भेद होते हैं—(१) लब्धिपर्याप्त और (२) करणपर्याप्त।

(१) जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं, वे लब्धि-पर्याप्त हैं।

(२) करणपर्याप्त के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवों ने इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण करली है, वे करणपर्याप्त हैं। चूंकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं हो सकती है, इसलिए तीनों पर्याप्तियाँ ली गई हैं, अथवा जिन जीवों ने अपनी योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं, वे करण-पर्याप्त कहलाते हैं।

लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त से विपरीत लक्षण वाले जीव क्रमशः लब्धि-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त कहलाते हैं। इनके स्वरूप का कथन आगे स्थावरदशक की प्रकृतियों में करेंगे।

अब आगे की गाथा में प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नाम-कर्म के स्वरूप को बतलाते हैं।

पत्तेय तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

गाथार्थ—प्रत्येकनामकर्म के उदय से जीवों के पृथक्-पृथक् शरीर होते हैं। स्थिर नामकर्म के कारण जीवों के शरीर में दांत, हड्डियां आदि स्थिर होती हैं। नाभि से ऊपर के शरीर अवयव शुभ हों, वह शुभ नामकर्म है और जिसके उदय से जीव सभी लोगों को प्रिय लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

विशेषार्थ—गाथा में प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग इन चार प्रकृतियों के लक्षण बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येकनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर (अपने-अपने स्थान पर रहें) हों उसे स्थिर-नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हों, उसे शुभनामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार न करने पर भी और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता हो उसे सुभगनामकर्म कहते हैं।

अब आगे की गाथा में शेष रही सुस्वर, आदेय और यशः-कीर्ति व स्थावर दशक की प्रकृतियों का कथन करते हैं।

सुसरा महुरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

गाथार्थ—सुस्वर नामकर्म के उदय से मधुर और सुस्वर ध्वनि होती है। आदेय नामकर्म के उदय से सब लोग वचन का

आदर करते हैं। यशःकीर्ति नामकर्म के उदय से यश और कीर्ति होती है और पूर्व में कही गई त्रसदशक की प्रकृतियों से विपरीत स्थावरदशक की प्रकृतियों का अर्थ समझना चाहिए।

विशेषार्थ—त्रसदशक की सात प्रकृतियों के स्वरूप पहले दो गथाओं में कहे जा चुके हैं और शेष रही तीन प्रकृतियों—सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति के लक्षण तथा स्थावरदशक की दस प्रकृतियों के लक्षण जानने के लिए त्रसदशक की दस प्रकृतियों से विपरीत समझने का संकेत इस गाथा में किया है। विशेष विवेचन क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता को प्रिय लगता है, उसे सुस्वरनामकर्म कहते हैं; जैसे—कोयल आदि का स्वर।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेयनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यश और कीर्ति फैले, उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं।

यशःकीर्ति यह पद, यश और कीर्ति दो शब्दों से निष्पन्न है। उसमें किसी एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और सब दिशाओं में प्रशंसा हो, उसे यश कहते हैं अथवा दान, तप आदि से जो प्रसिद्धि होती है, उसे कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो ख्याति होती है उसे यश कहते हैं। इस सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है—

दान-पुण्यकृता कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः।
एक दिग्गामिनी कीर्तिः सर्वदिग्गामकं यशः॥

अब स्थावरदशक की दस प्रकृतियों का स्वरूप कहते हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भग, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय और (१०) अयशःकीर्ति।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहें—सर्दी-गर्मी से बचने का प्रयत्न करने की शक्ति न हो, उसे स्थावरनामकर्म कहते हैं।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये स्थावर जीव हैं। इनके सिर्फ प्रथम अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

तेजस्काय और वायुकाय के जीवों के स्वाभाविक गति है, लेकिन द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गर्मी से बचने की विशिष्ट गति उनमें न होने से उन्हें स्थावर कहते हैं। उन्हें स्थावरनामकर्म का उदय है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर, (जो स्वयं न किसी को रोके और न किसी से रुके) प्राप्त हो, उसे सूक्ष्मनामकर्म कहते हैं।

इस नामकर्म वाले जीव भी पूर्वोक्त पांच स्थावर ही होते हैं। वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं और आंख से देखे नहीं जा सकते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं। अपर्याप्त जीवों के दो भेद हैं – लब्ध्य-पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं और जो जीव अभी अपर्याप्त हैं, किन्तु आगे की पर्याप्तियां पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करणाऽपर्याप्त कहते हैं।

लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भव की आयु का बन्ध करने के बाद ही सब जीव मरा करते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों को होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो, अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बनें, उसे साधारणनामकर्म कहते हैं।

इन साधारण शरीरधारी अनन्त जीवों के जीवन, मरण, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते हैं। इसीलिए वे साधारण कहलाते हैं। अर्थात् साधारण जीवों के आहारादिक कार्य सदृश और समान काल में होते हैं।

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीवों में से वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारण—दोनों प्रकार के नामकर्म वाले होते हैं। उनकी पहचान के कुछ उपाय ये हैं—

जिनकी शिरा, सन्धि, पर्व अप्रकट हों, मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल, टहनी, पत्र-फूल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हों और कन्द, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको साधारण और उसके विपरीत को प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म के उदय से कान, भौंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं उसे अस्थिरनामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हों, उसे अशुभनामकर्म कहते हैं। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व का लक्षण है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करने पर भी सभी को अप्रिय लगता है, दूसरे जीव शत्रुता एवं वैरभाव रखें, वह दुर्भगनाम-कर्म है।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर व वचन श्रोता को अप्रिय व कर्कश प्रतीत हो, उसे दुःस्वरनामकर्म कहते हैं।

(९) जिस कर्म के उदय से जीव का युक्ति-युक्त अच्छा वचन भी अनादरणीय, अग्राह्य समझा जाता है, वह अनादेयनामकर्म है।

(१०) जिस कर्म के उदय से जीव का लोक में अपयश और अपकीर्ति फैले, उसे अयशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं।

स्थावरदशक की इन दस प्रकृतियों के विवेचन के साथ नामकर्म की प्रकृतियों का कथन समाप्त हुआ। अब गोत्र और अन्तराय कर्म के स्वरूप और भेदों को बतलाते हैं।

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥५२॥

गाथार्थ—सु-घट और मद्यघट बनाने वाले कुम्भकार के कार्य के समान गोत्रकर्म का स्वभाव है। उसके दो भेद हैं—(१) उच्चगोत्र और (२) नीचगोत्र। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इनमें विघ्न करने से अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में गोत्रकर्म का स्वभाव और भेद तथा अन्तराय कर्म के भेद बतलाये हैं। पहले गोत्रकर्म का वर्णन करते हैं।

गोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। गोत्रकर्म के दो भेद हैं—(१) उच्चगोत्र और (२) नीचगोत्र।[1] इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

१. (क) गोए णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उच्चागोए य नीयागोए य ॥

—प्रज्ञापना, पद २३, उ० २, सू० २९३

(ख) उच्चैर्नीचैश्च। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० १२

(१) जिस कर्म के उदय से जीव उत्तमकुल में जन्म लेता है, वह उच्चगोत्रकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव नीचकुल में जन्म लेता है, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं।

धर्म और नीति की रक्षा के कारण जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह उच्चकुल है; जैसे—इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश इत्यादि। अधर्म और अनीति करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि व अकीर्ति प्राप्त की हो, वह नीचकुल है; जैसे—मद्य-विक्रेता कुल, वधक (कसाई) कुल और चोर कुल इत्यादि।[1]

उच्चगोत्र के जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और रूप की विशिष्टता से आठ भेद होते हैं और आठों की हीनता से नीचगोत्र के भी आठ भेद समझने चाहिए; जैसे—जाति-हीनता, कुल-हीनता आदि।

उक्त जाति आदि आठ विशेषताओं का मद (अहंकार) न करने से उच्चगोत्र का और मद करने से नीचगोत्र का बन्ध होता है।

गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है। जैसे, कुम्हार (कुम्भकार) छोटे-बड़े विविध प्रकार के घड़े बनाता है। उनमें से कुछ घड़े कलश रूप होते हैं, जो अक्षत, चन्दन आदि से पूजा योग्य होते हैं। कुछ घड़े मद्य आदि जैसे निन्दनीय पदार्थ रखे जाने से निन्दनीय होते हैं। इसी

(ग) गोयं कम्मं तु दुविहं उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं पि आहियं॥

—उत्तराध्ययन ३३।१४

1. उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्।
विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबंधदास्यादिनिर्वर्तकम्॥

—तत्त्वार्थसूत्र ८।१३ भाष्य

प्रकार गोत्रकर्म के प्रभाव से कई जीव उच्च और कई नीच माने जाते हैं।

अब अन्तरायकर्म का स्वरूप समझाते हैं।

अन्तरायकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (पराक्रम) में अन्तराय, विघ्न-बाधा उत्पन्न हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।[1] इसको विघ्नकर्म भी कहते हैं।

अन्तराय कर्म के निम्नलिखित पाँच भेद हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।[2] इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) दान की सामग्री पास में हो, गुणवान पात्र दान लेने के लिए सामने हो; दान का फल भी ज्ञात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नहीं होता है, उसे दानान्तराय कहते हैं।

(२) दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी पात्र हो; फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभान्तराय कहते हैं।

(३) भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नहीं कर सकता, उसे भोगान्तराय कहते हैं।

---

१. जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति-पततीत्यन्तरायम्। इदं चैवं—जहा राया दाणाई ण कुणइ भंडारिए विकूलंमि।
एवं जेणं जीवो कम्मं तं अन्तरायं ति॥ —ठाणांग २।४।१०५ टीका

२. (क) अन्तराए णं भन्ते! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा—दाणंतराइए, लाभंतराइए भोगंतराइए, उवभोगंतराइए, वीरियंतराइए। —प्रज्ञापना, पद २३, उ० २, सू० २९३

(ख) दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १३

(४) उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे उपभोगान्तराय कहते हैं।

जो पदार्थ एक बार भोगे जाएँ, उन्हें भोग कहते हैं। जैसे—भोजनादि। जो पदार्थ बार-बार भोगे जाएँ, उन्हें उपभोग कहते हैं; जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

(५) वीर्य यानि पराक्रम। जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और नीरोग होते हुए भी कार्यविशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, उसे वीर्यान्तराय कहते हैं।

वीर्यान्तराय के तीन भेद हैं—बाल वीर्यान्तराय, पण्डित वीर्यान्तराय, बाल-पण्डित वीर्यान्तराय। सांसारिक कार्यों को करने की सामर्थ्य होने पर भी जीव जिसके उदय से उनको न कर सके, वह **बाल वीर्यान्तराय** है। सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखते हैं, किन्तु जिसके उदय से तदर्थ क्रियाओं को न कर सकें, वह **पण्डित वीर्यान्तराय** है और देशविरति को चाहता हुआ भी जीव जिसके उदय से उसका पालन न कर सके, वह **बाल-पण्डित वीर्यान्तराय** है।

अब आगे की गाथा में अन्तराय कर्म का दृष्टान्त कहते हैं।

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवो वि ॥५३॥

गाथार्थ—अन्तराय कर्म श्रीगृही—भण्डारी के समान है। जैसे भण्डारी के प्रतिकूल होने पर राजा दानादि नहीं कर पाते हैं, उसी प्रकार अन्तरायकर्म के कारण जीव भी दानादि करने की इच्छा रखते हुए भी दानादि नहीं कर पाता है।

विशेषार्थ—यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्तरायकर्म के स्वभाव को समझाया है कि अन्तरायकर्म का स्वभाव भण्डारी के समान है। भण्डारी

के प्रतिकूल होने पर जैसे राजा किसी याचक को दान देना चाहता है और दान देने की आज्ञा भी देता है परन्तु भण्डारी इसमें बाधा उत्पन्न कर राजा की दान देने की इच्छा को सफल नहीं होने देता है। इसी प्रकार अन्तराय कर्म के लिए समझना चाहिए कि वह जीव रूपी राजा को दान, लाभ, भोग आदि की इच्छापूर्ति में रुकावट उत्पन्न करता है।

अन्तराय कर्म का उदय दाता की इच्छाओं में रुकावट डालने के समान ही लेने वाले के लिए भी प्राप्त होने योग्य वस्तु की प्राप्ति में विघ्न-बाधा उपस्थित कर देता है, जिससे वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के भेद-प्रभेदों का कथन करने के अनन्तर अब आगे की गाथाओं में उनके बन्ध के विशेष कारणों को कहते हैं।

आवरणद्विक के बन्धहेतु

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अन्तराएणं।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ॥५४॥

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन के बारे में प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निह्नव—अपलाप, उपघात, प्रद्वेष, अन्तराय और आसातन करने से जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का उपार्जन करता है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व आदि सामान्य बन्धहेतुओं के साथ जिन कारणों से उस-उस कर्म का मुख्य रूप से और शेष का गौण रूप से बन्ध होता है, उन्हें विशेष बन्धहेतु कहते हैं। यहाँ गाथा में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के बन्ध के विशेष हेतु बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निन्हव—अपलाप, छिपाना, उत्सूत्र

प्ररूपणा करना, उपघात—विनाश, प्रद्वेष—द्वेष, अरुचि, ईर्ष्या, अन्तराय—विघ्न, आसातना—निन्दा, अवर्णवाद—ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के बन्ध के विशेष कारण हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रतिकूल आचरण करना प्रत्यनीकत्व कहलाता है।

(२) मानवश ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना, अमुक के पास पढ़ कर भी मैंने इनसे नहीं पढ़ा अथवा अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नहीं जानता—उत्सूत्र प्ररूपणा करना, इस प्रकार के अपलाप को निह्नव कहते हैं।

(३) ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों—पुस्तक, पाठशाला आदि का शस्त्र, अग्नि आदि से नाश कर देना उपघात है।

(४) ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों पर प्रेम न रखकर द्वेष रखना अरुचि रखना प्रद्वेष है।

(५) ज्ञानाभ्यास के साधनों में रुकावट डालना, विद्यार्थियों को विद्या, भोजन, वस्त्र, स्थान आदि का लाभ होता हो तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास छुड़ाकर उनसे अन्य काम करवाना अन्तराय कहलाता है।

(६) ज्ञानियों की निन्दा करना, उनके बारे में झूठी-झूठी बातें कहना या मर्मच्छेदी बातें लोक में फैलाना, उन्हें मार्मिक पीड़ा हो, ऐसा कपट-जाल फैलाना आसातना है।

पूर्वोक्त कार्यों के सिवाय निषिद्ध काल, स्थान आदि में अभ्यास करना, गुरु का विनय न करना, पुस्तकों आदि को पैरों से हटाना, पुस्तकों का सदुपयोग न होने देना आदि तथा इसी प्रकार के अन्य कारण व कार्यों

के द्वारा ज्ञानादि के प्रति उपेक्षाभाव दर्शानेवाले कार्यों को करने से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है।

ऊपर जो ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के बारे में अनिष्ट आचरण करना आदि कारण बतलाये गये हैं, उन्हीं को दर्शन, दर्शनी-साधु, और दर्शन के साधनों के बारे में करने से दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है।

ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। इसलिए ज्ञान और ज्ञान के साधनों, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति किंचिन्मात्र भी असावधानी व उपेक्षा दिखाना अपना ही घात करना है। यहाँ उन कार्यों को बताया है जो उन गुणों के अभिवृद्ध होने के लिए करने योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार के अन्य विघातक कार्यों का भी इन्हीं में समावेश कर लेना चाहिए।

वेदनीय कर्म के बन्धहेतु

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

गाथार्थ—गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत, योग, कषाय-विजय, दान करने और धर्म में स्थिर रहने से सातावेदनीय का और इसके विपरीत प्रवृत्ति करने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में वेदनीय कर्म के दोनों भेद सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के बन्ध-कारणों को बतलाया है।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दुःख। जिस कर्म के उदय से सुख हो, वह सातावेदनीय और जिस कर्म के उदय से दुःख हो, वह असातावेदनीय है। सातावेदनीय पुण्य और असातावेदनीय

पाप है। अतः सुख को करने वाले और दूसरों को सुख पहुँचाने वाले[1] कार्यों द्वारा सातावेदनीय और दुःख के निमित्त जुटाने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इसी दृष्टि से सातावेदनीय और असातावेदनीय के बन्ध होने के कुछ कारणों को गाथा में बताया है, जो इस प्रकार है—

गुरु-भक्ति, क्षमाशीलता, दयालुता, व्रतयुक्तता, संयम साधना, कषायविजय, दानभावना और धार्मिक श्रद्धा की दृढ़ता से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इसी प्रकार गाथा में जो आदि शब्द है, उससे वृद्ध, बाल, ग्लान आदि की सेवा—वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुँचाना, मैत्री, प्रमोद आदि भावना रखना, लोकोपकारी कार्यों को करना इत्यादि का और ग्रहण कर लेना चाहिए। गाथा में आगत शब्दों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) गुरुजनों (माता-पिता, धर्माचार्य, विद्या पढ़ाने वाले, शिक्षागुरु, ज्येष्ठ भाई, बहन आदि) की सेवा, आदर, सत्कार करना गुरुभक्ति है।

(२) क्षमा करना अर्थात् बदला लेने की शक्ति होते हुए भी अपने साथ बुरा बर्ताव करने वाले के अपराधों को सहन करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोधभाव पैदा न होने देना—क्षमाशीलता है।

(३) प्राणिमात्र पर करुणाभाव रखना, उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करना दयालुता है।

---

१. समाहि काःएए णं तमेव समाहि पडिलब्भइ।
—समाधि पहुँचानेवाला समाधि प्राप्त करता है। —भगवती ७।१

(४) हिंसादि पापों से विरत होना व्रत है। अणुव्रतों या महाव्रतों का पालन करना व्रतयुक्तता है।

(५) योग का पालन करना अर्थात् साध्वाचार का पालन करना। चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु समाचारी को संयमयोग कहते हैं।

(६) क्रोधादि कषायों के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हें नहीं होने देना और कषायों पर विजय पाना कषाय-विजय है।

(७) सुपात्र को आवश्यकतानुसार दान देना, साधन जुटाना, दान-युक्तता है। जैसे रोगी को औषध देना, भयभीत को निर्भय बनाना और भय के कारणों को हटाना, विद्यार्थियों को विद्या के साधनों आदि को जुटाना और भूखे को भोजन देना तथा इनसे सम्बन्धित अन्य कार्यों को करना।

(८) आत्मिक गुणों—सम्यक्ज्ञानदर्शनचारित्र में अपने आपको स्थिर करना तथा इनमें स्थिरता लाने के लिए नीतिमय जीवन, ईमान-दारी, वीतराग के वचनों में दृढ़ता रखना धर्म में दृढ़ता रखना है।

यहाँ सातावेदनीय कर्म के बन्ध के जो कारण बतलाये हैं, इनसे विपरीत कार्य करने, भावना रखने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, जैसे—गुरुजनों का आदर न करना, निरपराधी को दण्ड देना, क्रूर परिणाम रखना, तीव्रकषाय युक्त होना आदि। दुःख, शोक, संताप आदि पैदा करने वाले कार्यों से आत्मा असातावेदनीय कर्म का बन्ध करती है।

दर्शनमोहनीय के बन्धहेतु

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ॥५६॥

गाथार्थ—उन्मार्ग का उपदेश देने और सन्मार्ग का अपलाप करने, देवद्रव्य का हरण करने और जिन, केवली, मुनि, चैत्य, संघ आदि के विरुद्ध आचरण करने से दर्शन मोहनीय कर्म का बंध होता है

विशेषार्थ—गाथा में दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतुओं में से कुछ एक का संकेत किया गया है, जो इस प्रकार हैं—उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग-नाश, देवद्रव्यहरण, जिन, मुनि, चैत्य, संघ—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि के विरुद्ध प्रवृत्ति, व्यवहार करना। इन कारणों की व्याख्या निम्न प्रकार है—

(१) संसार के कारणों और कार्यों का मोक्ष के कारणों के रूप में उपदेश देने को उन्मार्ग-देशना कहते हैं, जैसे देवी-देवताओं के सामने पशुओं की बलि (हिंसा) करने में पुण्य बताना। मिथ्यादर्शन आदि को मोक्ष का साधन कहना आदि। इसी प्रकार के अन्य कारणों को समझना चाहिए।

(२) संसारनिवृत्ति और मुक्तिप्राप्ति के मार्ग का अपलाप करना—मार्गनाश है, जैसे—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, जो कुछ सुख है, वह इसी जीवन में है। खाओ-पीओ-मौज उड़ाओ। पुनर्जन्म नहीं है। तप करके शरीर सुखाना है। आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने में व्यर्थ समय गंवाना है आदि उपदेश देकर भोले जीवों को सन्मार्ग से हटाना।

(३) देव यानि ज्ञान-दर्शनादि गुण संयुक्त स्वयं आत्मा और इसी सरीखे अन्य जीव, इनके उपयोगी द्रव्य को देवद्रव्य कहते हैं। प्राणि-रक्षा के उपयोग में आने वाले द्रव्य का हरण करना, अपव्यय करना, व्यवस्था न करना, देवद्रव्य-हरण कहलाता है। लौकिक दृष्टि से देव के लिए अर्पित द्रव्य की चोरी करना, उसे अपने उपयोग में लाना,

व्यवस्था करने में प्रमाद करना, दूसरा दुरुपयोग करता हो तो सामर्थ्य होते हुए भी मौन रहना देवद्रव्यहरण कहलाता है। इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य—शास्त्र व ज्ञान भण्डारों आदि धर्मस्थानों के निमित्त द्रव्य का हरण भी समझ लेना चाहिए।

(४) जिन भगवान, निरावरण केवलज्ञानी की निन्दा करना, सर्व दोषों से उन्मुक्त होने पर भी उनमें दोष बताना जैसे कि 'दुनिया में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता है।' समवशरण में छत्र, चामर आदि का उपयोग करने से उनको वीतराग न कहना, जिननिन्दा कहलाती है।

(५) पंच महाव्रतधारी रत्नत्रय से विभूषित साधु मुनिराजों की निन्दा करना, असद्भूत दोषों का आरोप लगाना साधु की निन्दा है।

(६) ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न गुणी महात्मा तपस्वी आदि की निन्दा करना चैत्यनिन्दा करना कहलाता है और लौकिक दृष्टि से स्मारक, स्तूप, प्रतिमा आदि की निन्दा करना, उन्हें हानि पहुँचाना भी चैत्यनिन्दा समझना चाहिए।

(७) साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ की निन्दा करने, गर्हा करने को, संघनिन्दा कहते हैं।

इनके सिवाय गाथा में आये आदि शब्द से आगम, गुरुजनों, धर्म आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। उनके प्रतिकूल आचरण करने, निन्दा करने, अवर्णवाद फैलाने से भी दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है।

चारित्रमोहनीय और नरकायु के बन्धहेतु

> **दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसय विवसमणो।**
> **बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥**

गाथार्थ—क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायों तथा विषयों में अनुरक्त जीव दोनों प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म का बंध करते हैं तथा बहु-आरम्भी, बहुपरिग्रही और रौद्र परिणामवाला जीव नरक-आयु का बंध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्रमोहनीय कर्म के कषाय और नोकषायमोहनीय तथा आयुकर्म के चार भेदों में से नरकायु के बंध कारणों को बतलाया है। पहले चारित्रमोहनीय के दोनों प्रकार के बंध कारणों को बतलाते हैं।

चारित्रमोहनीयकर्म कषाय और नोकषाय के भेद से दो प्रकार का है। कषायमोहनीय के सोलह तथा नोकषायमोहनीय के कषायोदय-जनित नौ भेद जो पहले कहे हैं, उनका जीव के तीव्र परिणामों से बन्ध होता है और पृथक्-पृथक् कषायों के बन्ध के बारे में इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से व्याकुल मन वाले जीव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों के सोलह भेदों का बन्ध करते हैं।

(२) अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के उदय से पराधीन हुआ जीव अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि बारह कषायों को बाँधता है।

(३) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के उदय से ग्रस्त जीव प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन क्रोधादि आठ कषायों को बाँधता है।

(४) संज्वलन चतुष्क युक्त जीव सिर्फ संज्वलन क्रोधादि चार कषायों का बन्ध करता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि क्रोध, मान, माया और लोभ—

इन चारों कषायों का एक साथ उदय नहीं होता है, किन्तु चारों में से किसी एक का उदय होता है। अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के कषायभेदों में से जिस कषाय प्रकार का उदय होगा, उस सहित आगे के प्रकार भी साथ में रहेंगे, किन्तु पूर्व का नहीं रहेगा। जैसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रकार का उदय होने पर उस सहित प्रत्याख्यानावरण, सञ्ज्वलन प्रकारों का उदय हो सकता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय का नहीं होगा। इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषाय प्रकार के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

कषायों के बन्धहेतुओं का कथन करने के बाद अब नोकषायों के बन्ध के बारे में बतलाते हैं कि हास्यादि नोकषायों से व्याकुल चित्त-वाला जीव हास्यादि छह नोकषायों को बाँधता है, जैसे कि—

(क) भांडों-जैसी चेष्टा करने वाला, दूसरों की हँसी उड़ाने वाला, बकवाद करने वाला जीव हास्यमोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

(ख) चित्र-विचित्र दृश्यों को देखने में रुचि रखने, उनके प्रति उत्सुकता दर्शाने आदि की वृत्तियुक्त जीव रतिमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ग) ईर्ष्यालु, पापी, दूसरों को दुखी करने वाला, बुरे कर्मों के लिए दूसरों को उत्साहित करने वाला जीव अरतिमोहनीयकर्म का बन्ध करता है।

(घ) स्वयं डरने वाला, दूसरों को भय पैदा करने वाला, त्रास देने वाला, निर्दय जीव भयमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ङ) स्वयं शोकग्रस्त रहने वाला और दूसरों को भी शोक उत्पन्न करने वाला जीव शोकमोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

(च) चतुर्विध संघ की, सदाचार आदि की निन्दा करने वाला, घृणा करने वाला जुगुप्सामोहनीयकर्म का बन्ध करता है।

वेदत्रिक के बन्ध-कारण इस प्रकार हैं—

(क) ईर्ष्यालु, विषयों में आसक्त, अतिकुटिल, स्त्रीलंपट जीव स्त्रीवेद को बाँधता है।

(ख) स्वदार-सन्तोषी, मन्दकषायी, सरल, शीलव्रतयुक्त जीव पुरुष-वेद का बन्ध करता है।

(ग) तीव्र विषयाभिलाषी, नैतिकता की मर्यादा भंग करने वाला आदि जीव नपुंसकवेद का बन्ध करता है।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतुओं का कथन करने के बाद अब आयुकर्म के चार भेदों में से नरकायु के बन्ध के कारणों को बतलाते हैं—

बहुत आरम्भ करने, बहुत परिग्रह रखने, उसके संग्रह की चिन्ता में डूबे रहने, रौद्र परिणामों और पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या करने, मांस-भक्षण, बार-बार मैथुन सेवन करने, दूसरे के धन का अपहरण करने आदि-आदि कारणों से जीव को नरकायु का बन्ध होता है।

तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बन्ध हेतु

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

गाथार्थ—गूढ़ हृदय, शठ, सशल्य तिर्यंचायु का तथा प्रकृति से मन्द कषाय वाला, दान में रुचि रखने वाला और मध्यम गुण वाला मनुष्यायु का बन्ध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में क्रमशः तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बन्ध के कारणों को बतलाया है।

तिर्यंचायु के बन्धकारणों का कथन करते हुए कहा है कि गूढ़-हृदय अर्थात् जिसके मन की बात का पता न लग सके, शठ—मीठा

बोलने का प्रदर्शन करते हुए भी मन में कपटभाव रखने वाला, सशल्य —अपने दोष, पापकर्मों को छिपाने के लिए सदैव चौकन्ना रहने वाला और इसमें चतुराई समझने वाला जीव तिर्यंचायु का बन्ध करता है।

लेकिन जो जीव सरल हृदय वाला है, अल्प-आरम्भी और अल्प-परिग्रही है, दान देने में उत्साह रखने वाला है, मन्दकषाय वाला होने से जीव मात्र के प्रति दया, क्षमा, मार्दव आदि भाव रखने वाला है, वह मनुष्यायु का बन्ध करता है।

गाथा में जो 'मज्झिम गुणो' पद आया है, उसका अर्थ यह है कि कि अधम गुणों से नरकायु का और उत्तम गुणों से देवायु का बन्ध होता है और जो जीव मध्यम गुण वाला है, वह मनुष्यायु का बन्ध करता है।

देवायु और नामकर्म के बन्धहेतु

> **अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ।**
> **सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥**

गाथार्थ —अविरतसम्यग्दृष्टि आदि तथा बालतप, अकाम-निर्जरा करने वाला जीव देवायु का बन्ध करता है। सरल परिणाम वाला एवं निरभिमानी जीव शुभ नामकर्म की प्रकृतियों का तथा इसके विपरीत वृत्तिवाला जीव अशुभ नामकर्म की प्रकृतियों का बन्ध करता है।

विशेषार्थ —गाथा में क्रमशः देवायु और नामकर्म की शुभ और अशुभ प्रकृतियों के बन्धकारणों को बतलाया है। उनमें से देवायु के बन्धकारण इस प्रकार हैं—

मनुष्य और तिर्यंच ही देवायु के बन्ध की योग्यता रखते हैं और

उनमें भी वही, जो कम-से-कम सम्यग्दृष्टि हैं। अर्थात व्रत आदि का पालन करने में असमर्थ होते हुए भी जो मनुष्य या तिर्यंच सम्यग्दर्शन सहित हैं, वे देवायु का बन्ध करते हैं। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए गाथा में अविरत पद दिया है। अविरत के साथ ही जो आदि शब्द दिया है, उसका आशय यह है कि देशविरत, सरागसंयमी भी देवायु का बन्ध करने की सामर्थ्य वाले हैं। सारांश यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत मनुष्य और तिर्यंचों तथा सरागसंयमी मनुष्यों के देवायु का बन्ध हो सकता है।

बालतपस्वी, अर्थात् आत्मस्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाले मिथ्यादृष्टि भी देवायु का बन्ध कर सकते हैं।

अज्ञान से भूख-प्यास, सर्दी-गरमी आदि को सहन करना, स्त्री की अप्राप्ति में शील को धारण करना इत्यादि कारणों से जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छा के न होते हुए अनायास ही जिसके कर्म की निर्जरा हुई है, ऐसा जीव देवायु का बन्ध कर सकता है।

देवायु के बन्धकारणों को बतलाने के बाद अब नामकर्म की शुभ और अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणों को बतलाते हैं।

नामकर्म की शुभ प्रकृतियों का बन्ध वे जीव करते हैं, जो सरल अर्थात् छल-कपट रहित हैं, जिनके मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकरूपता है, गौरवरहित हैं, अर्थात् जिनको अपनी ऋद्धि, वैभव, शरीर, सौन्दर्य आदि का अभिमान नहीं है, वे जीव नामकर्म की शुभ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

गौरव के तीन प्रकार हैं—ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातगौरव।

(क) धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य को ऋद्धि कहते हैं। उससे अपने को महत्त्वशाली समझना ऋद्धि-गौरव है।

(ख) मधुर, अम्ल आदि रसों में अपना गौरव समझना रसगौरव कहलाता है।

(ग) शरीर के स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि का अभिमान करना सात-गारव कहलाता है।

इसी प्रकार पाप से डरने वाला; क्षमा, दया, मार्दव आदि गुणों से युक्त जीव शुभ नामकर्म को बांधता है।

जिन कार्यों से नामकर्म की शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है, उनके विरुद्ध कार्य करने वाला जीव अशुभ प्रकृतियों का बन्ध करता है। जैसे माया, छल-कपट, अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करना, झूठी साक्षी देना, शपथ लेना, देवद्रव्य, सार्वजनिक सम्पत्ति आदि का दुरुपयोग करना, अपहरण करना आदि दुष्ट प्रवृत्तियों से नामकर्म की अशुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। सरांश यह है कि अनैतिक आचार-विचार से नरकगति, अयशःकीर्ति, एकेन्द्रिय जाति आदि अशुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

गोत्रकर्म के बन्धहेतु

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

गाथार्थ—गुणों को देखने वाला, निरभिमानी, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला और जिन भगवान् का भक्त जीव उच्चगोत्र का तथा इससे विपरीत वृत्ति वाला जीव नीच-गोत्र का बन्ध करता है।

विशेषार्थ—गोत्रकर्म के दो भेद हैं—(१) उच्चगोत्र और (२)

नीचगोत्र। गाथा में दोनों भेदों के बन्धहेतुओं को बतलाया है। उनमें से उच्चगोत्र के बन्धहेतुओं को बतलाते हुए कहा है कि जो जीव गुण-प्रेक्षी हैं, अर्थात् किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी, उनके बारे में उदासीन होकर सिर्फ गुणों को देखने वाले हैं, गुणों के प्रशंसक हैं; जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपमद—इन आठों प्रकार के मेदों से रहित हैं, अर्थात् उक्त बातों का अभिमान नहीं करते हैं। सदैव सत्साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने में रुचि रखने वाले हैं और जिनेन्द्र भगवान, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, माता-पिता और गुणी जनों की भक्ति करने वाले हैं वे उच्चगोत्र-कर्म का बन्ध करते हैं।

जिन कृत्यों से उच्चगोत्र का बन्ध होता है, उनसे उल्टे कार्यों को करने से जीव नीचगोत्रकर्म का बन्ध करते हैं। अर्थात् दूसरों के दोषों को देखने से, जाति, कुल आदि का अभिमान करने से, पठन-पाठन में अरुचिभाव रखने से और जिनेन्द्र भगवान, तीर्थङ्कर, गुरु, माता-पिता आदि महापुरुषों में भक्ति न रखने आदि कारणों से नीच-गोत्र का बन्ध होता है।

अन्तराय कर्म के बन्धहेतु, उपसंहार

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥६१॥

गाथार्थ—जिन भगवान् की पूजा में विघ्न करने वाले, हिंसा आदि पापों में तत्पर जीव अन्तराय कर्म का बन्ध करते हैं। इस प्रकार श्री देवेन्द्र सूरि ने इस 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्द्ध में अन्तरायकर्म के बन्धहेतुओं का और उत्तरार्द्ध में ग्रन्थ समाप्ति का संकेत किया गया है।

अन्तरायकर्म का बन्ध उन जीवों को होता है जो जिन भगवान की पूजा में विघ्न डालते हैं, अर्थात् जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद करने से, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, गुणों का संकीर्तन करने में रुकावट डालने से, आत्मकल्याण के साधक व्रत, तप, संयम की ओर अग्रसर होने वालों को निरुत्साहित करने से तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्य करने से अन्तरायकर्म का बन्ध होता है। साथ ही हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रहरूप पापों को स्वयं करने, दूसरों से कराने और करते देख प्रसन्न, अनुमोदना करने से, दानादि कार्यों में विघ्न डालने आदि से अन्तरायकर्म का बन्ध होता है।

इस प्रकार कर्मों के स्वरूप, भेदों, बन्धहेतुओं का सामान्य रूप से कथन करने वाला श्री देवेन्द्र सूरि विरचित 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ।

॥ इति 'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ ॥

परिशिष्ट

कर्म की मूल एवं उत्तरप्रकृतियों की संख्या तथा नाम—

कर्म की मूल प्रकृतियाँ—८

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अंतराय।

अष्ट कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ—१५८

(१) ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—५

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्यवज्ञानावरण, (५) केवलज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—९**

(१) चक्षुदर्शनावरण, (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधि-दर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।

(३) **वेदनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—२**

(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय।

(४) **मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—२८**

मुख्य भेद—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय।

दर्शनमोहनीय के प्रभेद—३

(१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय तथा (३) मिथ्यात्व-मोहनीय।

चारित्रमोहनीय के प्रभेद—२५ (कषाय—१६, नोकषाय—९)

कषाय· (४) अनन्तानुबंधी क्रोध, (५) अनन्तानुबंधी मान,

(६) अनन्तानुबंधी माया, (७) अनन्तानुबंधी लोभ, (८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (९) अप्रत्याख्यानावरण मान, (१०) अप्रत्याख्यानावरण माया, (११) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, (१३) प्रत्याख्यानावरण मान, (१४) प्रत्याख्यानावरण माया, (१५) प्रत्याख्यानावरण लोभ, (१६) संज्वलन क्रोध, (१७) संज्वलन मान, (१८) संज्वलन माया, (१९) संज्वलन लोभ।

नोकषाय—(२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा, (२६) पुरुषवेद, (२७) स्त्रीवेद, (२८) नपुंसक वेद।

(५) आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—४

(१) देवायु, (२) मनुष्यायु, (३) तिर्यंचायु, (४) नरकायु।

(६) नामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—१०३

गति—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति।

जाति—(५) एकेन्द्रिय, (६) द्वीन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (९) पंचेन्द्रिय।

शरीर—(१०) औदारिक शरीर, (११) वैक्रिय शरीर, (१२) आहारक शरीर (१३) तैजस शरीर, (१४) कार्मण शरीर।

अंगोपांग—(१५) औदारिक अंगोपांग, (१६) वैक्रिय अंगोपांग, (१७) आहारक अंगोपांग।

बंधन—(१८) औदारिक-औदारिक बंधन, (१९) औदारिक-तैजस बंधन, (२०) औदारिक-कार्मण बंधन, (२१) औदारिक-तैजस-कार्मण बंधन, (२२) वैक्रिय-वैक्रिय बंधन, (२३) वैक्रिय-तैजस बंधन, (२४) वैक्रिय-कार्मण बंधन, (२५) वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधन, (२६) आहा-

रक-आहारक बन्धन, (२७) आहारक-तैजस बन्धन, (२८) आहारक-कार्मण बन्धन, (२९) आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, (३०) तैजस-तैजस बन्धन, (३१) तैजस-कार्मण बन्धन, (३२) कार्मण-कार्मण बन्धन।

संघातन—(३३) औदारिक संघातन, (३४) वैक्रिय संघातन, (३५) आहारक संघातन, (३६) तैजस संघातन, (३७) कार्मण संघातन।

संहनन- (३८) वज्रऋषभनाराच संहनन, (३९) ऋषभनाराच संहनन, (४०) नाराच संहनन, (४१) अर्धनाराच संहनन, (४२) कीलिका संहनन, (४३) सेवार्त संहनन।

संस्थान—(४४) समचतुरस्र संस्थान, (४५) न्यग्रोध संस्थान, (४६) सादि संस्थान, (४७) वामन संस्थान, (४८) कुब्ज संस्थान, (४९) हुण्ड संस्थान।

वर्ण—(५०) कृष्णवर्ण, (५१) नीलवर्ण, (५२) लोहितवर्ण, (५३) हारिद्रवर्ण, (५४) श्वेतवर्ण।

गन्ध—(५५) सुरभिगन्ध, (५६) दुरभिगन्ध।

रस—(५७) तिक्तरस, (५८) कटुरस, (५९) कषायरस, (६०) आम्लरस, (६१) मधुररस।

स्पर्श—(६२) कर्कश-स्पर्श, (६३) मृदुस्पर्श, (६४) गुरुस्पर्श, (६५) लघुस्पर्श, (६६) शीतस्पर्श, (६७) उष्णस्पर्श, (६८) स्निग्धस्पर्श, (६९) रूक्षस्पर्श।

आनुपूर्वी—(७०) नरकानुपूर्वी, (७१) तिर्यंचानुपूर्वी, (७२) मनुष्यानुपूर्वी, (७३) देवानुपूर्वी।

विहायोगति—(७४) शुभ विहायोगति, (७५) अशुभ विहायोगति।

प्रत्येकप्रकृतियाँ—(७६) पराघात, (७७) उच्छ्वास, (७८) आतप (७९) उद्योत, (८०) अगुरुलघु, (८१) तीर्थंकर, (८२) निर्माण, (८३) उपघात (८४) त्रस, (८५) बादर, (८६) पर्याप्त, (८७) प्रत्येक, (८८) स्थिर, (८९) शुभ, (९०) सुभग, (९१) सुस्वर, (९२) आदेय, (९३) यशःकीर्ति, (९४) स्थावर, (९५) सूक्ष्म, (९६) अपर्याप्त, (९७) साधारण (९८) अस्थिर, (९९) अशुभ, (१००) दुर्भग, (१०१) दुःस्वर, (१०२) अनादेय, (१०३) अयशःकीर्ति।

(७) **गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ**—२

(१) उच्चगोत्र, (२) नीचगोत्र।

(८) **अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ**—५

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय।

नामकर्म की प्रकृतियों की गणना का विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की गणना में नामकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की जितनी संख्या बतलाई है उतने ही उन-उन के उत्तरभेदों के नाम निर्दिष्ट हैं। लेकिन नामकर्म के उत्तरभेदों की संख्या ४२, ६७, ९३ और १०३ बताई गई है। इस भिन्नता का कारण अपेक्षा दृष्टियों से है। अब उनकी गणना का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए—

४२ भेद—१४ पिंडप्रकृतियाँ, १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक और ८ प्रत्येकप्रकृतियाँ। इनके नाम ये हैं—

१४ **पिंडप्रकृतियाँ**—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बन्धन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहायोगति।

१० त्रसदशक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति।

१० स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति।

८ प्रत्येकाष्टक—पराघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, उपघात।

६७ भेद—(इनमें १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक और ८ प्रत्येकाष्टक प्रकृतियों के नाम पूर्वोक्तवत् हैं।) १४ पिंडप्रकृतियों में से बन्धन और संघातन नामकर्म के भेदों को शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया है। शेष रही १२ पिंडप्रकृतियों में से वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श के भेद न करके शेष ८ प्रकृतियों के ३५ भेद होते हैं। उनको ग्रहण करने से ६७ भेद हो जाते हैं। ८ पिंडप्रकृतियों के ३५ भेद ये हैं—

गति ४—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

जाति ५—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

शरीर ५—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण।

अंगोपांग ३—औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

संहनन ६—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्त।

संस्थान ६—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक।

आनुपूर्वी ४—नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी।

विहायोगति २—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति।

९३ भेद—इनमें १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक, ८ प्रत्येक

प्रकृतियाँ तथा पूर्वोक्त ८ पिंडप्रकृतियों के ३५ भेदों के अतिरिक्त जो बन्धन और संघातन नामकर्म को शरीर नामकर्म में ग्रहण कर लिया था, उन दोनों के ५, ५ उत्तरभेदों तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के क्रमशः ५, २, ५, ८ उत्तरभेदों को मिलाने से ९३ भेद होते हैं--

बन्धन ५—औदारिक बन्धन, वैक्रिय बन्धन, आहारक बन्धन, तैजस बन्धन, कार्मण बन्धन।

संघातन ५—औदारिक संघातन, वैक्रिय संघातन, आहारक संघातन, तैजस संघातन, कार्मण संघातन।

वर्ण ५—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्ल।

गन्ध २—सुरभि, दुरभि।

रस ५—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर।

स्पर्श ८—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

१०३ भेद—पूर्वोक्त ९३ भेदों में बन्धन के जो ५ भेद ग्रहण किये हैं, उनके स्थान पर निम्नोक्त १५ भेद ग्रहण करने से नामकर्म के १०३ भेद होते हैं—

बन्धन १५—औदारिक-औदारिक बन्धन, औदारिक-तैजस बन्धन, औदारिक-कार्मण बन्धन, औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, वैक्रिय-तैजस बन्धन, वैक्रिय-कार्मण बन्धन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, आहारक-आहारक बन्धन, आहारक-तैजस बन्धन, आहारक-कार्मण बन्धन, आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, तैजस-तैजस बन्धन, तैजस-कार्मण बन्धन, कार्मण-कार्मण बन्धन।

अर्थात् ९३ प्रकृतियों में बन्धन के पाँच भेद के स्थान पर १५ भेद जोड़ने से १०३ भेद होते हैं।

(९३ − ५ = ८८ + १५ = १०३) □

बन्ध, उदय-उदीरणा एवं सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या

(१) बन्धयोग्य प्रकृतियाँ—१२०

ज्ञानावरण ५, **दर्शनावरण** ९, **वेदनीय** २, **मोहनीय** २६, **आयु** ४, **नाम** ६७, **गोत्र** २, **अन्तराय** ५।

५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२०

(२) उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ—१२२

ज्ञानावरण ५, **दर्शनावरण** ९, **वेदनीय** २, **मोहनीय** २८, **आयु** ४, **नाम** ६७, **गोत्र** २, **अन्तराय** ५।

५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२

(३) सत्तायोग्य प्रकृतियाँ १५८ अथवा १४८

ज्ञानावरण ५, **दर्शनावरण** ९, **वेदनीय** २, **मोहनीय** २८, **आयु** ४, **नाम** १०३ **अथवा** ९३, **गोत्र** २, **अन्तराय** ५।

५+९+२+२८+४+१०३/९३+२+५=१५८/१४८

कर्मबन्ध के विशेष कारण-सम्बन्धी आगम पाठ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के सद्भाव से संसारी जीव सदैव कर्मबन्ध करता रहता है। इसीलिए इन्हें कर्मबन्ध का सामान्य कारण कहा जाता है। लेकिन इनकी विद्यमानता के साथ ही जिन विशेष कारणों से उस-उस कर्म का जो विशेष रूप से बन्ध होता है उन्हें उस-उस कर्म के बन्ध का विशेष कारण कहते हैं।

ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने विभिन्न कर्मों के बन्ध-विषयक विशेष कारणों का संकेत किया है। इन कारणों के कथन का आधार आगम हैं। अतः पाठकों की जानकारी के लिए विशेष बन्धकारण सम्बन्धी आगमगत पाठों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आगम पाठ निम्न-प्रकार हैं—

(१-२) ज्ञानावरण-दर्शनावरण

णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबन्धेणं भन्ते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणनिण्हवणाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेण ⋯ ⋯एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसणनाम घेत्तव्वं।

— व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ८, उ० ६, सू० ७५-७६

अर्थ—भगवन् ! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर का प्रयोगबन्ध होता है ?

गौतम ! ज्ञानी से शत्रुता करने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान में विघ्न डालने से, ज्ञान में दोष निकालने से, ज्ञान का अविनय करने

से, ज्ञान में व्यर्थ का वाद-विवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव होता है। इन उपर्युक्त कार्यों में ज्ञान के स्थान पर दर्शन व दर्शनी (साधु) का नाम जोड़कर कार्य करने से दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में निम्नलिखित पाठ दिया है—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।

—अ० ६, सू० १०

(३) वेदनीय

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। उनमें से प्रथम असातावेदनीय का बन्धसम्बन्धी पाठ यह है—

परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जन्ते। —व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० ६, सू० २८७

अर्थ—हे गौतम! दूसरों को दुःख देने से, दूसरे को शोक उत्पन्न करने से, दूसरे को झुराने से, दूसरे को रुलाने से, दूसरों को पीटने से, दूसरों को परिताप देने से, बहुत से प्राणियों और जीवों को दुःख देने से, शोक उत्पन्न कराने आदि परिताप देने से जीव असातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं।

इस सम्बन्धी तत्त्वार्थसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेदस्य।

—अ० ६, सू० ११

सातावेदनीय सम्बन्धी पाठ

पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति। —भगवती, श० ७, उ० ६, सू० २८६

अर्थ—हे गौतम ! प्राणों पर अनुकम्पा करने से, प्राणियों पर दया करने से, जीवों पर दया करने से, सत्त्वों पर दया करने से, बहुत-से प्राणियों को दुःख न देने से, शोक न कराने से, न झुराने से, न सताने से, न पीटने से, परिताप न देने से जीव सातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमितिसद्वेद्यस्य।

—अ० ६, सू० १२

(४) मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं। उनमें से पहले दर्शनमोहनीय के कारणों को कहते हैं—

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—अरहंताणं अवन्नं वदमाणे, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियउवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे।

—स्थानांग, स्थान ५, उ० २, सू० ४२६

अर्थ—पांच स्थानों के द्वारा जीव दुर्लभबोधि (दर्शनमोहनीय) कर्म का उपार्जन करते हैं—अर्हन्त का अवर्णवाद करने से, अर्हन्त के

उपदेश दिये हुए धर्म का अवर्णवाद करने से, आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से, चारों प्रकार के संघ का अवर्णवाद करने से तथा परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक देवों का अवर्णवाद[1] करने से।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। —अ० ६, सू० १३

चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध सम्बन्धी पाठ

मोहणिज्जकम्मासरीरप्पओग पुच्छा, गोयमा! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायाए तिव्वलोभाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्वचारित्तमोहणिज्जाए। —भग० प्र० श० ८, उ० ६ सू० ३५१

अर्थ—(चारित्र) मोहनीय कर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध किस प्रकार होता है? गौतम! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्रमोहनीय से।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्बन्धित पाठ

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। —अ० ६, सू० १४

(५) आयुकर्म

आयुकर्म के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं। इनके प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अपने-अपने बन्ध के कारण हैं। इनमें से नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयु बन्ध के कारणों के पाठों का संकेत कर सामान्यतः सभी आयुओं के बन्ध के कारण का पाठ उद्धृत करते हैं।

---

१. जो दोष न हों, उनका भी होना बतलाना, निन्दा करना अवर्णवाद है।

नरकायु बन्ध के कारण

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा— महारम्भताते, महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं ।

—स्थानांग, स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

अर्थ—जीव चार प्रकार से नरकायु का बन्ध करते हैं—बहुत आरम्भ करने से, बहुत परिग्रह करने से, पंचेन्द्रिय जीव के वध से और (मृतक) मांस का आहार करने से ।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।

— अ० ६, सू० १५

तिर्यंचआयु के बन्ध के कारण

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा— माइल्लताते, णियडिल्लताते, अलियवयणेणं, कूडतूलकूडमाणेणं ।

—स्थानाग, स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

अर्थ—चार प्रकार से जीव तिर्यंच-आयु का बन्ध करते हैं—छल-कपट से, छल को छल के द्वारा छिपाने से, असत्य भाषण से और कम तौलने व नापने से ।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

माया तैर्यग्योनस्य । —अ० ६, सू० १६

मनुष्यायु के बन्ध के कारण

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तं जहा—पगतिभद्दताते, पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते ।

स्थानांग, स्थान ४, उ०४, सू० ३७३

वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहु पाणिणो ।।

—उत्तराध्ययन, अ० ७, गा० २०

अर्थ—चार प्रकार से जीव मनुष्यायु का बन्ध करते हैं—उत्तम स्वभाव होने से, स्वभाव में विनय होने से, स्वभाव में दया होने से, स्वभाव में ईर्ष्याभाव न होने से।

जो प्राणी विविध शिक्षाओं द्वारा उत्तम व्रत ग्रहण करते हैं, वे प्राणी शुभकर्मों के फल से मनुष्ययोनि को प्राप्त करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य । स्वभाव मार्दवञ्च ।

—अ० ६, सू० १७, १८

देवगति के बन्ध के कारण

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामणिज्जराए ।

—स्थानांग, स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

अर्थ—चार प्रकार से जीव देवायु का बन्ध करते हैं—सरागसंयम से, संयमासंयम से, बालतप से और अकामनिर्जरा से।

वेमाणियावि''' जइ सम्मदिट्ठीपज्जत्तसंखेज्जावासाउयकम्मभूमिजगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संजतसम्मदिट्ठीहिंतो असंजयसम्मदिट्ठीपज्जत्तएहिंतो संजयासंजयसम्मदिट्ठीपज्जत्त संखेज्जाहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! तीहिंतोवि उववज्जंति एवं जाव अच्चुओ कप्पो ।

—प्रज्ञापना, पद ६

अर्थ—यदि वैमानिक देवों में सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्य उत्पन्न हों तो क्या संयत सम्य-

दृष्टियों से, असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तकों से, संयतासंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यात वर्ष की आयु वालों में से उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! तीनों में से ही अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

सरागसंयम संयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।

सम्यक्त्वं च। —अ० ६, सू० २०-२१

साधारणतः चारों आयु के बन्ध का कारण

एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयंपि पकरेइ, तिरियाउयंपि पकरेइ, मणुस्साउयंपि पकरेइ देवाउयंपि पकरेइ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १, उ० ८, सू० ६३

अर्थ—एकान्तबाल (बिना शील और व्रत वाला) मनुष्य नरकायु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बांधता है, मनुष्य आयु भी बाँधता है और देवायु का भी बन्ध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्। —अ० ६, सू० १९

(६) नामकर्म

नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। दोनों के बन्धकारणों सम्बन्धी पाठ यह है—

सुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा ! कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीरजावप्पयोगबन्धे, असुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा ! कायअणुज्जययाए जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पयोगबन्धे। —व्याख्या प्रज्ञप्ति श० ८ उ० ९

अर्थ—शुभ नामकर्म का शरीर किस प्रकार प्राप्त होता है ?

हे गौतम ! काय की सरलता से, मन की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति न करने से शुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध किस प्रकार होता है ?

इसके विपरीत काय, मन तथा वचन की कुटिलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति करने से अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। तद्विपरीतं शुभस्य।

—अ० ६, सू० २२, २३

नामकर्म में तीर्थंकर नाम का विशिष्ट स्थान है। अतः उसके बन्ध के भी विशिष्ट कारण हैं। वे विशेष कारण क्रमशः इस प्रकार वर्णित किये गये हैं।

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खण लव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

—ज्ञाताधर्म० अ० ८, सू० ६४

अर्थ—अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, प्रवचनभक्ति, स्थविर (आचार्य)-भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, तपस्वी-वत्सलता, निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, दर्शन का विशुद्ध रखना, विनयसहित होना, आवश्यकों का

पालन करना, अतिचाररहित शील और व्रतों का पालन करना, संसार को क्षणभंगुर समझना, शक्ति-अनुसार तप करना, त्याग करना, वैयावृत्य करना, समाधि करना, अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करना, शास्त्र में भक्ति होना, प्रवचन में भक्ति होना और प्रभावना करना—इन कारणों से जीव तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य। —अ० ६, सू० २४

(७) गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के नीच और उच्च ये दो भेद हैं। उनमें से पहले नीच-गोत्र के बन्धकारणों का, अनन्तर उच्चगोत्र के बन्धकारणों का निर्देश करते हैं—

नीचगोत्र

जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगबन्धे। —व्याख्या० श० ८, उ० ९ सू० ३५१

अर्थ—जाति के मद से, कुल के मद से, बल के मद से तथा अन्य मदों सहित ऐश्वर्य के मद से नीच गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

उच्चगोत्र

जातिअमदेणं कुलअमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं

सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मा सरीर जाव पयोगबन्धे। —व्या० प्र० श० ८, उ० ६, सू० ३५१

जाति, कुल, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य का घमण्ड न करने से उच्च गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र का नीचगोत्र और उच्चगोत्र बन्ध सम्बन्धी पाठ

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। —अ० ६, सू० २५, २६

(८) अन्तराय कर्म

दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरयंतराएणं अंतराइयकम्मा सरीरप्पयोगबन्धे।

—व्या० प्र०, श० ८, उ० ६, सू० ३५१

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करने से अन्तराय कर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्बन्धित पाठ

विघ्नकरणमन्तरायस्य। —अ० ६, सू० २७

विशेष—यहाँ आगम सूत्रों और तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों द्वारा आठ कर्मों के बन्ध के विशेष कारणों का उल्लेख किया गया है। इन पाठों में तथा कर्मग्रन्थों में प्रदर्शित कारणों में समानता और असमानता प्रतीत होने का कारण यह है कि कारणोल्लेख में मुख्यरूप से आगम सूत्रों का, कहीं उनके आशय का अवलम्बन लेकर ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी भाषा-शैली, वाक्यविन्यास, प्रयत्नलाघव आदि द्वारा बन्ध के कारणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसे कथन-शैली की भिन्नता समझा जाय। लेकिन मूल उद्देश्य और आशय तो आगमों के आधार से कर्मों के बन्धकारणों का उल्लेख करना ही है। अतः भाषा-शैली का भेद प्रतीत होने पर भी उनमें मौलिक भेद नहीं समझना चाहिए।

कर्मसाहित्य-विषयक समान-असमान मन्तव्य

सामान्यतः कर्मों की बन्ध, उदय-उदीरणा और सत्ता की स्थिति एवं गुणस्थानों, मार्गणाओं में कर्मों के बन्ध आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिकों, कर्मग्रन्थकारों और श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थों के विषय-प्रतिपादन में अधिकांश समानता दृष्टिगोचर होती है। यदि कथंचित् भिन्नता भी है तो वह जिज्ञासा की दृष्टि से कर्म-विषयक गहन अध्ययन और मनन के लिए ग्राह्य मानकर 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के निकष पर परीक्षायोग्य है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्मग्रन्थों में जीव शब्द की व्याख्या, उपयोग का स्वरूप, केवलज्ञानी के विषय में संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व का व्यवहार, वायुकायिक शरीर की ध्वजाकारता, छाद्मस्थिक के उपयोगों का कालमान, भावलेश्या सम्बन्धी स्वरूप-दृष्टान्त आदि, चौदह मार्गणाओं का अर्थ, सम्यक्त्व की व्याख्या, क्षायिक सम्यक्त्व, केवली में द्रव्यमन का होना, गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उन्तीस अंक, इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा में तेजस्काय आदि का विशेषाधिकत्व, वक्रगति में विग्रह की संख्या, गुणस्थान में उपयोग की संख्या, कर्मबन्ध के हेतुओं की संख्या दो, चार, पाँच होना, सामान्य तथा विशेष बन्धहेतुओं का विचार—ये विषय समान रूप से प्राप्त होते हैं। दोनों की वर्णन शैली समान है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमें कुछ अंशों में भिन्नता होते हुए भी अधिक अंशों में समानता है।

इसके साथ ही कतिपय कथनों में भिन्नताएँ भी हैं, जिनका संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रकृतिभेद—इसमें प्रकृति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं—(१) स्वभाव और (२) समुदाय। श्वेताम्बर कर्म साहित्य में उक्त दोनों ही अर्थ पाये जाते हैं[1] परन्तु दिगम्बर साहित्य में प्रकृति शब्द का स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। जैसे—'प्रकृति स्वभावः', 'प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्'[2], 'पयडी सीले सहावो'[3] इत्यादि।

पद का प्रमाण—जिस शब्द के अन्त में विभक्ति आई हो या जितने भाग में अर्थ की समाप्ति हो, उसे पद कहते हैं। लेकिन पदश्रुत में पद का मतलब ऐसे पद से नहीं है, सांकेतिक पद से है। आचारांग आदि आगमों का प्रमाण ऐसे ही पदों से गिना जाता है। कितने श्लोकों का यह सांकेतिक पद माना जाता है, तादृश संप्रदाय के नष्ट हो जाने से इसका पता नहीं चलता है, यह कहीं टीका में लिखा है और कहीं यह भी लिखा मिलता है कि प्रायः ५१,०८,८६,८४० श्लोकों का एक पद होता है।

---

१. (क) प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः॥
—लोकप्रकाश, सर्ग १० श्लोक १३७

(ख) ठिइबंधदलस्स ठिइ पएस बन्धो पएसगहणं जं।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबन्धो॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वभाव अर्थ में अनुभागबन्ध का मतलब कर्म की फलजनकशक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मंदता से ही है, परन्तु समुदाय अर्थ में अनुभागबन्ध से कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मंदता इतना अर्थ विवक्षित है।

२. तत्त्वार्थसूत्र अ० ८, सूत्र ३, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक टीका।

३. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गा० ३

दिगम्बर साहित्य में भी पदश्रुत में पद शब्द का सांकेतिक अर्थ लिया गया है। आचारांग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदों से उसमें भी माना गया है। परन्तु इसमें यह विशेषता देखी जाती है कि जहाँ श्वेताम्बर साहित्य में पद के प्रमाण के सम्बन्ध में सब आचार्य आम्नाय का विच्छेद दिखाते हैं, वहाँ दिगम्बर साहित्य में पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। वहाँ १६३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार, ८८८ अक्षरों का एक पद माना है।[1] जो बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरों के ५१,०८,८४,६२११ प्रमाण होते हैं।

इस प्रमाण में तथा श्वेताम्बर साहित्य में कहीं-कहीं बताये गये पद प्रमाण में सम्बन्ध में एकवाक्यता ही प्रतीत होती है।

मनःपर्ययज्ञान का ज्ञेय (विषय)— इस सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले में लिखा है कि मनःपर्ययज्ञानी मनःपर्ययज्ञान से दूसरों के मन में अवस्थित पदार्थ चिन्त्यमान पदार्थ-को जानता है और दूसरे उल्लेख में कहा है कि मनःपर्ययज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं होता, किन्तु विचार करते के समय मन की जो आकृतियाँ होती हैं, उन्हीं का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बर साहित्य[2] का है और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य[3] का है।

१. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ३३५।

२. सर्वार्थसिद्धि टीका पृ० १२४, राजवार्तिक पृ० ४८, गोम्मटसार, जीवकांड, गा० ४३७-४४७।

३. तत्त्वार्थ०, अ० १, सूत्र २४ टीका। आवश्यक गा० ७६ की टीका। विशेषावश्यकभाष्य पृ० ३९०, गा० ८१३-८१४। लोकप्रकाश सं० ३, श्लोक ८४१ से।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति—इसके सम्बन्ध में दिगम्बर साहित्य में जो उल्लेख है, वह श्वेताम्बर साहित्य में देखने में नहीं आया है।

अवधिज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिगम्बर साहित्य का मंतव्य यह है कि अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है, जो कि शंख आदि शुभ चिह्न वाले अंगों में वर्तमान होते हैं। मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है, जिनका सम्बन्ध द्रव्यमन के साथ है, और द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है, अर्थात् हृदयभाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों में ही मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम है।[1]

द्रव्यमन—इसके लिए जो कल्पना दिगम्बर साहित्य में है, वह श्वेताम्बर साहित्य में नहीं है। दिगम्बर साहित्य में इस प्रकार कहा गया है—द्रव्यमन हृदय में ही है। उसका आकार आठपत्र वाले कमल का-सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धों से बनता है। उसके बनने में अन्तरंगकारण अंगोपांगनामकर्म का उदय है।[2]

मिथ्यात्वमोहनीय के तीन भेद—मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेदों—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र—की कल्पना के लिए श्वेताम्बर साहित्य में 'कोदों के छाछ से धोये और भूसे से रहित शुद्ध (सम्यक्त्व), भूसे सहित और न धोये हुए अशुद्ध (मिथ्यात्व) और कुछ धोये हुए और कुछ न धोये हुए मिले को अर्धविशुद्ध (मिश्र) माना है। लेकिन दिगम्बर साहित्य में चक्की से दले हुए कोदों में से जो भूसे के साथ हैं वे अशुद्ध (मिथ्यात्व), जो भूसे से बिलकुल रहित हैं, वे शुद्ध (सम्यक्त्व) और कण (अर्द्ध विशुद्ध—मिश्र) माने गये हैं और प्राथमिक उपशम

---

१. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ४४२
२. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ४४१

सम्यक्त्वपरिणाम (ग्रन्थिभेदजन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते हैं, उसे चक्की स्थानीय माना गया है।[1]

कषायों की उपमा—कर्मग्रन्थ में और गोम्मटसार जीवकांड गाथा २८६ में कषायों को जिन-जिन पदार्थों की उपमा दी गई है, वे सब एक-से ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि गोम्मटसार में प्रत्याख्याना-वरण लोभ के लिए शरीर के मैल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ में काजल की उपमा दी है।

अपवर्त्य आयु—कर्मग्रन्थ गाथा २३ की व्याख्या में अपवर्त्य आयु का स्वरूप बताया गया है। जिसमें इस मरण को अकालमरण कहा गया है और गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५७ में 'कदलीघातमरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शब्द अकालमृत्यु के अर्थ में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है।

आठ कर्मों का क्रम—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के कथनक्रम की उत्पत्ति श्वेताम्बर ग्रन्थ पंचसंग्रह की टीका, कर्मविपाक की टीका, जयसोमसूरिकृत टब्बा और जीवविजयजीकृत बालबबोध में इस प्रकार बताई है—

उपयोग, यह जीव का लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन, ये दो भेद हैं। उनमें ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से ही किसी शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई लब्धि प्राप्त होती है, तब जीव ज्ञानोपयोग युक्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय होती है। अतः ज्ञान के आवरणभूत कर्म—ज्ञानावरण का कथन सबसे पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति जीवों के ज्ञान के अनन्तर

---

१. गोम्मटसार, कर्मकांड, गाथा २६

होती है, इसी से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरणकर्म का कथन किया गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा इनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है, इसलिए उन दोनों के बाद वेदनीयकर्म का कथन किया गया है। वेदनीयकर्म के अनन्तर मोहनीयकर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो आता है। मोहनीय के अनन्तर आयुकर्म का पाठ इसलिए है कि मोह व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बन्ध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ, उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने ही पड़ते हैं। इसी को बताने के लिए आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीच गोत्र का विपाक भोगना पड़ता है, इसी से नाम के बाद गोत्रकर्म का कथन है। उच्च गोत्र वालों को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्रविपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को बताने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तराय कर्म का निर्देश किया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकांड में अष्ट कर्मों के कथन-क्रम विषयक उपपत्ति लगभग पूर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य बात यह है कि अन्तरायकर्म घाती होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाती होने पर भी अघाति कर्मों की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय नाम आदि अघातिकर्मों के निमित्त से होता है तथा वेदनीयकर्म अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्मों के बीच इस-लिए किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोहनीयकर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है।

कर्मप्रकृतियों के नाम विषयक भेद—दोनों परम्पराओं में अष्ट कर्म की प्रकृतियों के नाम लगभग समान ही हैं। कुछ नाम ऐसे हैं, जिनमें किंचित् परिवर्तन देखा जाता है—

श्वेताम्बर	**दिगम्बर**
सादि संस्थान	स्वाति संस्थान
कीलिका संहनन	कीलित संहनन
सेवार्त संहनन	असंप्राप्तासृपाटिक संहनन
ऋषभनाराच संहनन	वज्रनाराच संहनन

कर्मप्रकृतियों की परिभाषा विषयक भेद—श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मसाहित्य में कर्मप्रकृतियों की परिभाषाओं में अधिक अंशों में समानता है। दोनों में कुछ प्रकृतियों की परिभाषा में जो भिन्नता दिखती है, उनके नाम और परिभाषाएं क्रमशः इस प्रकार हैं—

[अगले पृष्ठ १८५ पर देखिए]

क्रम	प्रकृतिनाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१.	अनादेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य न हों, अर्थात् हितकारी वचनों को भी लोग प्रमाण रूप न मानें और अनादर करें।	जिसके उदय से शरीर में प्रभा न हो।
२.	अस्थिर नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सिर, हड्डी, दाँत, जीभ, कान आदि अवयवों में अस्थिरता आती है, चंचल रहें।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु स्थिर न रहें और थोड़ा-सा भी कष्ट न सहा जा सके।
३.	अशुभ नामकर्म	जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव पैर आदि अशुभ हों।	जिस कर्म के उदय से शरीर-अवयव सुन्दर न हों।
४.	आदेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य हों, लोग प्रमाणभूत समझकर मानते हों और सत्कार करते हों।	जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त हो।

क्रम	प्रकृति नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
५.	आनुपूर्वी नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सम-श्रेणी में गमन करता हुआ जीव विश्रेणी गमन करके उत्पत्ति-स्थान में पहुँचे।	जिसके उदय से विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बना रहे।
६.	गति नामकर्म	जिसके उदय से जीव को मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायों की प्राप्ति हो।	जिसके उदय से जीव भवान्तर को जाता है।
७.	जुगुप्सा	जिसके उदय से जीव को गंदी वस्तुओं पर घृणा या ग्लानि हो।	जिसके उदय से जीव अपने दोष छिपावे और पर के दोष प्रकट करे।
८.	निद्रा (दर्शनावरण)	जिसके उदय से हल्की नींद आये, सोता हुआ जीव जरा-सी आवाज में उठाया जा सके।	जिसके उदय से जीव चलता-चलता खड़ा रह जाय और गिर जाए।
९.	निर्माण नामकर्म	अंगोपांगों को अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित करना।	इसके स्थान-निर्माण और प्रमाण-निर्माण—ऐसे दो भेद करके इनका कार्य अंगोपांगों को यथा-

			स्थान व्यवस्थित करने के उपरान्त उनको प्रमाणोपेत बनाना भी माना है।
१०.	पराघात नामकर्म	जिसके उदय से दूसरे बलवानों के द्वारा भी अजेय हो।	जिसके उदय से दूसरों का घात करने वाले शरीर के अवयव उत्पन्न हों, दाढ़ों में विष आदि हो।
११.	प्रचला	जिसके उदय से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद आये।	जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता-सा रहे।
१२.	प्रचला-प्रचला	जिसके उदय से मनुष्य को चलते-चलते भी नींद आये।	जिसके उदय से सोते में जीव के हाथ-पैर भी चलें और मुंह से लार भी गिरे।
१३.	यशःकीर्ति नामकर्म	जिसके उदय में दान, तप आदि जनित यश फैले। अथवा एक दिशा में फैलनेवाली ख्याति को यश और सर्वदिशाओं में मिलने वाली ख्याति को कीर्ति कहते हैं।	जिसके उदय से संसार में यश फैले और गुणों का कीर्तन हो।
१४.	शुभ नामकर्म	जिस कर्म के उदय के नाभि के ऊपर के अवयव शुभ हों।	जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव रमणीय हों।

क्रम	प्रकृतिनाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१५.	सम्यक्त्वप्रकृति	जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्त्व की श्रद्धा न करे।	जिस कर्म के उदय से सम्यग्-दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लगें।
१६.	सम्यग्मिथ्यात्व	जिस कर्म के उदय से जीव को जिनधर्म में न राग हो और न द्वेष हो।	जिसके उदय से जीव के तत्त्व और अतत्त्व श्रद्धानुरूप दोनों प्रकार के भाव हों।
१७.	स्थिर नामकर्म	जिसके उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर रहें।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें। जिससे उपसर्ग, तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किये जा सकते हैं।
१८.	शरीर के संयोगीभेद	पांचों शरीर सम्बन्धी बन्धन नामकर्म के संयोगी भेद पन्द्रह होते हैं।	पांचों शरीर के संयोगी भेद पन्द्रह होते हैं।

पृष्ठ २ पर आगत अष्ट महाप्रातिहार्यों से सम्बन्धित चित्र ।

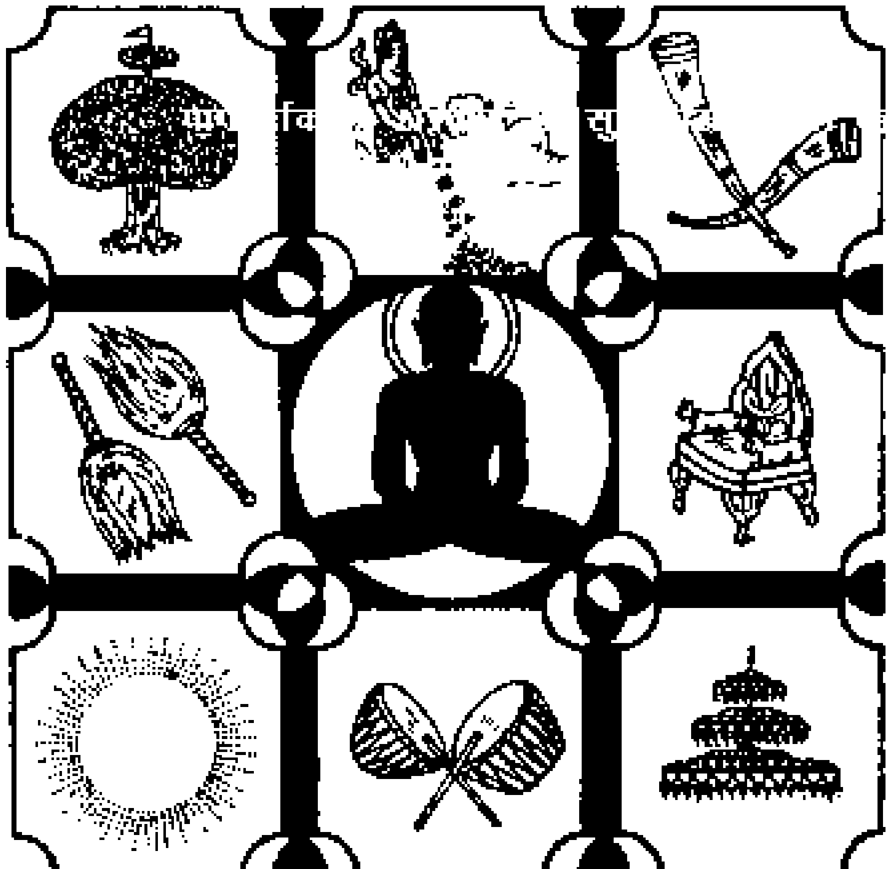

अष्ट महाप्रातिहार्य

गाथा ३८ से ४० [पृष्ठ ११७ से ११९] में संघयण एवं संस्थान के ६-६ भेद बताये हैं। उनको स्पष्ट करने वाले चित्र देखिए:–

संघयण का चित्र

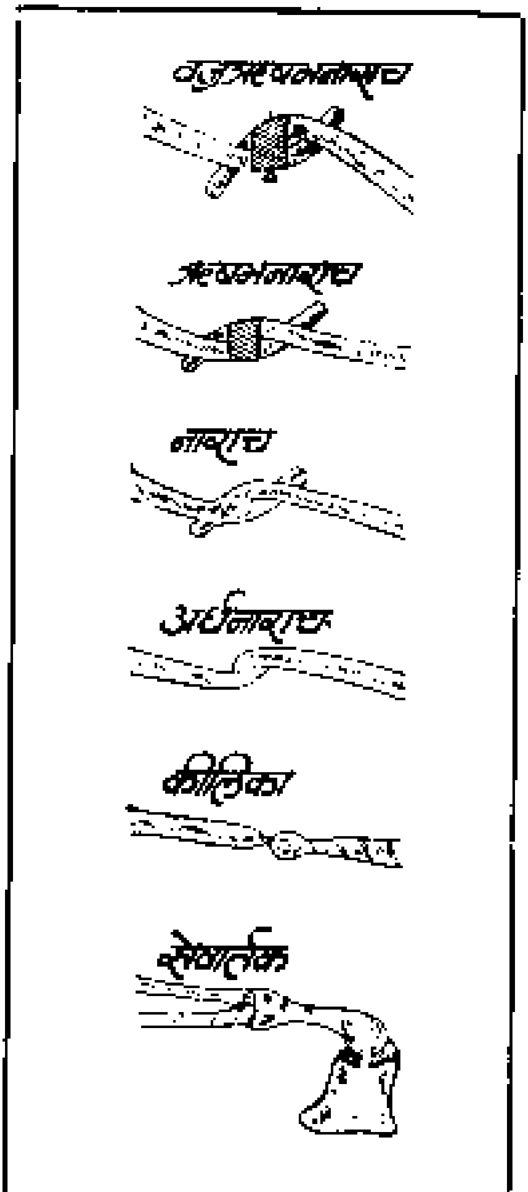

संस्थान का चित्र